Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न ऐतरेय उपनिषद्

सरल सुबोध भाषा भाष्य

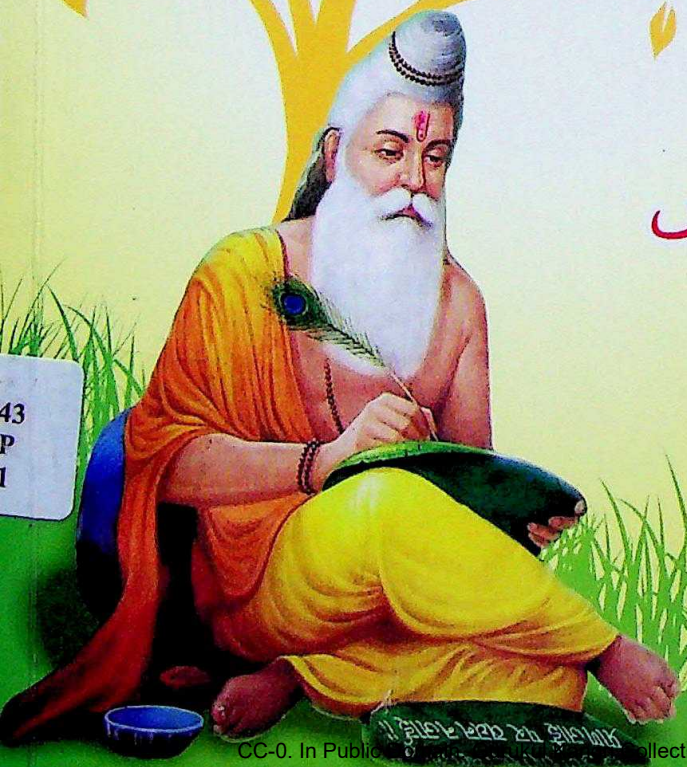

प्रदत्त

43
P
1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

157941
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—ऐतरेय उपनिषद्

आर्ष साहित्य
Complete Vedic Books Store
Yog, Vedic, Ayurvedic, Relegious
All Yog & Organic Products
(M) 9541317278, 8869821468
Web.: aarshsahitya.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न-ऐतरेय उपनिषद

081
167941

प्रदान

Central Library
167941
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
089.9143
GUR-P

© ईशान दत्त

मूल्य ः 100/-

प्रकाशक हिन्दी साहित्य सदन
2 वी. डी. चैम्बर्स , 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग पुलिस स्टेशन के पास, नई दिल्ली-110005
E-mail: indiabooks@rediffmail.com
hindisahityasadan@gmail.com
Website: www.hindisahityasadan.com
टैलिफैक्स 011-23553624, 011-23551344, 09213527666
संस्करण 2016
मुद्रक संजीव आफसैट प्रिंटर्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत संस्कृति परिषद्

शाश्वत का अर्थ है सदा रहने वाला; जो नित्य है, वह सब के लिए है।

ज्ञान का मूल स्रोत परमात्मा है और परमात्मा का ज्ञान वेद है। वेद ज्ञान प्राणी मात्र के लिये है।

जैसे एक वृक्ष, जिसका सम्बन्ध मूल वृक्ष से कट गया हो, शीघ्र ही सूखने तथा सड़ने लगता है, इसी प्रकार मानव समाज भी, मूल ज्ञान से विच्छिन्न हो सूख तथा सड़ रहा है। इस मानव समाज को ज्ञान के मूल स्रोत—वेद से पुनः जोड़ने का एक प्रयास ही यह शाश्वत संस्कृति परिषद् है।

लेखक की मान्यता है कि उपनिषद् ज्ञान वहाँ तक ही सत्य का प्रतिपादन करते हैं, जहाँ तक वे वेद मत के अनुकूल हों। वेद ईश्वरीय तथा शाश्वत ज्ञान है जबकि उपनिषद् ऋषि (मनुष्य) कृत होने से सीमित ज्ञान के ही द्योतक हैं तथा वेदानुकूल होने पर ही मान्य हैं।

इसी दृष्टि से यह भाष्य प्रस्तुत है।

प्रकाशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम

१. भूमिका ७
२. प्रश्नोपनिषद् ९
३. ऐतरेय उपनिषद् ६५
४. मन्त्र तथा प्रमाण वर्णानुक्रमणिका १०५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

यह उपनिषद् किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का अंश नहीं है। तदपि कठोपनिषद् की भांति यह भी प्रश्नोत्तर रूप में वर्णित है। दोनों उपनिषदों में कुछ अन्तर भी है, वह यह कि जहां कठोपनिषद् में प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता, दोनों एक ही व्यक्ति हैं, वहां प्रश्नोपनिषद् में प्रश्न करने वाले छः भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं और उनका उत्तरदाता केवल एक ही ऋषि है। दूसरा अन्तर यह है कि कठोपनिषद् में प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों सर्वथा काल्पनिक हैं, किन्तु प्रश्नोपनिषद् में प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों ही वास्तविक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। अस्तु, यह उपनिषद् प्रमुख ग्यारह उपनिषदों में से एक विख्यात उपनिषद् है।

ईश, केन और कठ से भिन्न प्रश्नोपनिषद् का शान्तिपाठ ऋग्वेद के मन्त्रों से लिया गया है। इससे इस उपनिषद् के वक्ता की महिमा उन तीनों उपनिषदों के वक्ताओं की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

ईशावास्योपनिषद् की बात अन्य दो—केन और कठ—उपनिषदों से भिन्न है। इसका कारण यह है कि उस उपनिषद् में एक मन्त्र के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्र यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के ही हैं। परन्तु केन और कठ के विषय में ऐसा नहीं है।

हम आर्य सन्तान अपने पूर्ण ज्ञान और धर्म का मूल वेद मानते हैं। इस कारण हम उपनिषदों की महिमा भी इस कारण ही स्वीकार करते हैं कि वे वेदानुकूल हैं।

ईशावास्योनिषद् में जो एक मन्त्र यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय से बाहर का है, वह भी यजुर्वेद की कण्व शाखा का मन्त्र है। हम शाखाओं को मूल वेद के समान मान्यता नहीं देते। हमने वहां उसके भाष्य में यह बताया भी है कि उसका भाव वेद से कुछ भिन्न है। वैसे भी उपनिषद् के अन्य स्थान पर भाव से भी यह भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कठोपनिषद् में तो ऐसा बहुत-कुछ उल्लिखित है, जिसे हम किसी अच्छे लेखक अथवा वक्ता का कथन नहीं समझते। हमने अपने भाष्य में कहा भी है कि जो कुछ शब्दों से प्रतीत होता है, वह उपनिषद्कार का आशय नहीं प्रतीत होता। उपनिषद्कार की भाषा शिथिल और भाव अस्पष्ट होने के कारण विपरीतार्थक प्रतीत होते हैं।

वर्तमान उपनिषद् में मन्त्रों की विवेचना करते हुए हम अपना मत उन मन्त्रों के विषय में भी बतायेंगे।

प्रस्तुत उपनिषद् का शान्तिपाठ इस प्रकार है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम ह देवहितं यदायुः॥

(ऋ० १-८९-८)

अर्थ—हम सब देव (विद्वान् लोग) कानों से शुभ संवाद सुनें, आंखों से हम यजत्राः (जीवन चलाने वाले) मंगल-सुन्दर दृश्य देखें। स्थिर अंगों और शरीर से ब्रह्म की स्तुति करते हुए लम्बी और सुखी आयु व्यतीत करें।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(ऋ० १-८९-६)

अर्थ—महान् कीर्तिमान् इन्द्र (परमात्मा) हमारा कल्याण करे। सबका पालन करने वाला और समस्त को जानने वाला हमारा कल्याण करे। क्लेशों को वज्र से नाश करने वाला वह (परमेश्वर) हमारा कल्याण करे। वह ज्ञान का स्वामी हमें ज्ञान दे।

इस उपनिषद् का प्रवचन ज्ञान देने के लिए ही किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नोपनिषद्

प्रथम प्रश्न

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते, ह्येते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ।।
।। १ ।।

अर्थ—भारद्वाज पुत्र सुकेशा, शिबि-पुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्रोत्पन्न सौर्यायणि, सूर्य का पोता, अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु की सन्तान वैदर्भि, कत्य का पुत्र कबन्धी, ईश्वर-परायण, ब्रह्मविश्वासी, भक्तजन परमब्रह्म को खोजते हुए, हाथों में समिधा लिये हुए भगवान् पिप्लाद के समीप आये। उनका विश्वास था कि पिप्लाद मुनि उनका समाधान कर सकेंगे।

जिज्ञासुओं के नाम हैं—

(१) भारद्वाज-नन्दन सुकेशा। इसे भारद्वाज गोत्रोत्पन्न कहा है।
(२) शिबि का पुत्र सत्यकाम।
(३) सूर्य का पोता गार्ग्य।
(४) अश्वल का पुत्र कौसल्य।
(५) भृगु गोत्रोत्पन्न वैदर्भि।
(६) कत्य का पुत्र कबन्धी।

कहा गया है कि ये ब्रह्मपरायण थे और ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले थे तथा ब्रह्म के विषय में जानने के लिए भगवान् पिप्लाद के सम्मुख उपस्थित हुए थे। 'ब्रह्मपराः' का अर्थ है ईश्वर-परायण और 'ब्रह्मनिष्ठाः' का अर्थ है ईश्वर में विश्वास रखने वाले। वे जानने आये थे परम-ब्रह्म के विषय में।

अब देखना यह है कि उनको समझाने वाले ऋषि क्या बताते हैं?

यह भी कहा गया है कि 'हाथ में समिधा लिये हुए।' भाष्यकारों ने इसका अर्थ किया है हवन में अग्नि प्रज्वलित करने के लिए समिधा अर्थात लकड़ियां।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम समझते हैं कि समिधा का अर्थ है—जो यज्ञ की अग्नि से संयुक्त होकर उस अग्नि को तीव्र करे।

अतः समिधा का अभिप्राय होगा कि किसी कार्य को अधिक तीव्र करने के लिए जो कुछ भी किया जाये।

जिज्ञासु ज्ञानार्जन करने आये थे, इस कारण यज्ञ था, ज्ञान-यज्ञ। इसका अभिप्राय है कि शिष्य स्वयं भी विद्वान् थे और होने वाले ज्ञानयज्ञ में अपना सहयोग भी देने के लिए आये थे।

तब समिधा का अर्थ होगा, विद्वान् अपने ज्ञान को बगल में दबाये उससे कुछ अधिक जानने के लिए आये थे।

वे अपने ज्ञानयज्ञ को अधिक तीव्र करने आये थे।

तान्ह सः ऋषिरुवाच भूयः एव तपसा
ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ
यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः
सर्वं ह वो वक्ष्यामः इति ॥२॥

अर्थ—पिप्लाद मुनि ने कहा—एक वर्ष और अधिक श्रद्धा के साथ तप, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मेरे पास रहो। तदुपरान्त जो कुछ पूछोगे, और यदि मैं जानता हुआ तो, आप लोगों को वह सब बता दूंगा।

तप का अभिप्राय है योग्यता प्राप्त करने के लिए यत्न करना। किसी कार्य की सिद्धि के लिए किए जाने वाले निरन्तर यत्न को तप कहते हैं। ऋषि ने उन्हें अपने आश्रम में रहते हुए प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा। यह कहा कि इसे यत्न से प्राप्त करो।

ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है मन और इन्द्रियो पर अनुशासन प्राप्त करना। जो चाहिए वह करे, उसी का चिन्तन भी करे। जो नहीं चाहिए उस ओर प्रवृत्ति न करे। मन और इन्द्रियों पर भी अपना अनुशासन रखे।

श्रद्धा से अभिप्राय यह समझना चाहिए कि जिज्ञासु एक वर्ष तक ऋषि के आश्रम में रहकर ऋषि के विषय में भलीभांति जान लें और फिर उसके कथन पर श्रद्धा से विश्वास करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ कबन्धी कात्यायनः उपेत्य पप्रच्छ।
भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति ॥३॥

अर्थ—प्रतीक्षाकाल के उपरान्त—कत्य के पुत्र कबन्धी ने पूछा—भगवन् ! ये अनेक प्रकार की प्रजायें—सृष्टि के पदार्थ—किससे उत्पन्न होते हैं ?

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत
स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।
रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा
प्रजाः करिष्येति इति ॥४॥

अर्थ—उस (पिप्लाद मुनि) ने कहा, प्रजापति की जब इच्छा हुई तो उसने तप किया। तप से 'मिथुन' (दो परस्पर विरोधी शक्तियों का संयोग) उत्पन्न हुआ—एक रयि और दूसरे प्राण चेतन हो गये। (प्रजापति ने कामना की) और बहुत प्रजायें उत्पन्न कर दीं।

मुनि पिप्लाद का कहना है कि प्रजापति ने प्रजाओं की रचना की। पौराणिक भाषा में प्रजापति से ब्रह्मा का अर्थ लिया जाता है। हम प्रजापति का अर्थ परमात्मा करते हैं। ब्रह्मा हम ईश्वर की शक्ति को कहते हैं। इसको वेद में आनीतवातम्, अश्वः, अर्वः, तेज इत्यादि शब्दों से अभिहित किया गया है। यह शक्ति कार्यरत और कार्य से विरत होती रहती है। यही ब्रह्मा है।

पुराणों में कहा है कि ब्रह्मा प्रकटित ईश्वरीय शक्ति है। भगवान् विष्णु की नाभि स्थान से उत्पन्न कमल पर प्रकट हुआ। (दृष्टव्य—ऋ० १०-१२९-२, ऋ० १-१६३-१ तथा वृहदारण्यक उपनिषद् १-१-१।)

यह ब्रह्मा अथवा अर्वः, अश्वः इत्यादि परमात्मा की कामना से चेतन हो उठते हैं। (दृष्टव्य—ऋ० १०-१२९-४।) परमात्मा में कामना उत्पन्न हुई और तेज जागृत हो गया। पहले यह अवातम् (निश्चल—सोया हुआ) था।

यही बात इस उपनिषद् में कही गयी है। केवल शब्दों का भेद है। उपनिषद्-कार कहता है कि प्रजापति में कामना उत्पन्न हुई और मिथुन उत्पन्न हुआ। यहां दो शक्तियों में एक को 'रयि' कहा है। रयि का अर्थ है—अन्न, धन, सम्पत्ति। यहां पर इससे अभिप्राय है प्रकृति। प्राण और रयि उत्पन्न नहीं हुए। रयि और प्राण दोनों ही पहले से विद्यमान थे। इनमें मिथुन संयोग उत्पन्न हो गया। (देखिए ऋ० १६३-१, २।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद में कहा है कि परमात्मा का अर्वः त्रित (प्रकृति के परमाणु) पर लगाम की भांति सवार हो गया। यह है मिथुन। अर्वः को प्राण कहा है। यह परमात्मा की शक्ति है। दोनों में संयोग होता है। इस संयोग से प्रजायें अर्थात् जगत् के पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्।
सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव च रयिः ॥५॥

अर्थ—प्राण आदित्य है। रयि चन्द्रमा है। सब मूर्त और अमूर्त पदार्थ रयि हैं। (मूर्त का अभिप्राय है व्यक्त और अमूर्त का अभिप्राय है है अव्यक्त पदार्थ।) व्यक्त और अव्यक्त, दोनों ही उत्पन्न हुए।

आदित्य सूर्य को कहते हैं। जैसे पृथिवी है वैसे ही चन्द्रमा भी नक्षत्र है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सूर्य प्राण है? और क्या चन्द्रमा प्रकृति है? भाष्यकारों ने इसको अनेक प्रकार से वर्णन करने का यत्न किया है। हमारे मत में प्राण को सूर्य और रयि को चन्द्रमा इस कारण कहा है कि सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा भी प्रकाशित होता है। परन्तु सूर्य के प्रकाश से तो सौर्य-मण्डल के सभी नक्षत्र प्रकाशित होते हैं, तब फिर चन्द्र को ही रयि क्यों कहा है? हमारी दृष्टि में यह केवल आलंकारिक वर्णन ही है। अन्यथा चन्द्रमा के किसी भी गुण का प्रजाओं अर्थात् प्रकृति के पदार्थों की उत्पत्ति में कोई योगदान नहीं है। इस उपमा का केवल इतना ही अभिप्राय है कि जैसे सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित हो उठता है वैसे ही प्राण के प्रभाव से प्रकृति का परमाणु साम्यावस्था से असाम्यावस्था में हो जाता है। साम्यावस्था में यह तमोभूत (अन्धकारमय) होता है और असाम्यावस्था में वह सक्रिय हो जाता है (प्रकाशमान हो जाता है)। यही सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा में होता है।

वस्तुम्थिति ऋ० १-१६३-२ में वर्णन की है। वहां कहा है कि जब परमात्मा की प्राण शक्ति त्रित (रयि के परमाणु) पर आरूढ़ होती है तो इन्द्र, जो त्रित में छिपा हुआ था वह बाहर प्रकट होने लगता है। (दृष्टव्य हमारा सांख्य भाष्य पृ० १०२, १०३।) इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति बहिर्मुख हो जाती है। ऐसा होने से प्रकृति में कार्य होने लगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति
तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिष सन्निधत्ते ।
यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं
यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा
दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्
प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

अर्थ—जैसे सूर्य पूर्व से उदित हो पहले पूर्व दिशा के पदार्थों को प्रकाशित करता है, तदनन्तर वह दक्षिण, पश्चिम और ऊपर, नीचे फैलकर सब ओर के पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही प्राणों की रश्मियों में परमाणु संयुक्त हो जाते हैं।

सूर्य के प्रकाश की भांति भी जब प्राण सक्रिय होता है तो वह भी एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर, फिर सब ओर, तब ऊपर-नीचे फैल जाता है। और सब ओर के परमाणुओं पर प्रभाव डालता है। यही बात ऋ० १०-१२९-५ में कही है। वह इस प्रकार है :—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन् महिमान् आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥
॥ऋ० १०-१२९-५॥

अर्थ—इसकी रश्मि चारों ओर फैली हुई हो जाती है। नीचे को भी और ऊपर को भी (ये) परमाणु जिनके ऊपर-नीचे रश्मियां पहुंच जाती हैं। उनको धारण कर, सृष्टि रचना के लिए, बीज बन जाते हैं।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।
तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥

अर्थ—वह यह (प्राण) जो उदय हुआ था, वह वैश्वानर अग्नि है। ऐसा वेद में भी कहा है।

वैश्वानर अग्नि परमात्मा के उदीयमान प्राण का ही रूप है। ऋग्वेद में भी ऐसा वर्णन आया है। वहां कहा है :—

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश ।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥
॥ ऋ० १-९८-२ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—वैश्वानर अग्नि सूर्य को छू रही है, पृथिवी को छू रही है, समस्त वनस्पतियों में प्रवेश कर उनको छू रही है। वह अग्नि बलयुक्त होकर वैश्वानर हो जाती है। हम उसको रात्रि (ब्रह्म-रात्रि) के विनाश से बचायें।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सूर्य से आरम्भ कर पृथिवी-पर्यन्त सब पदार्थों को वैश्वानर अग्नि स्पर्श कर रही है और प्राणियों में जो अग्नि निहित है वह भी वैश्वानर ही है। ब्रह्मरात्रि के समय यह अग्नि कार्य नहीं करेगी और तब सब कुछ विनष्ट जायेगा।

वेद में शताधिक मन्त्र वैश्वानर के विषय में हैं। यह परमात्मा का प्राण ही है जो विश्व को संगठित किये हुए है।

यह कहा है कि जब अग्नि (प्राण) त्रित (परमाणु) पर अंकुश बन जाता है तो परमाणु की त्रिगुणात्मक शक्ति (इन्द्र) बहिर्मुख हो जाती है और तब सृष्टि-रचना होने लगती है। जब तक प्राण शक्ति परमाणु पर आरूढ़ रहेगी तबतक रचना कार्य चलता रहेगा। जब यह हट जायेगी तो रचना कार्य समाप्त होकर ब्रह्मरात्रि हो जायेगी। यह विश्व का नेता अर्थात् जगत् का निर्माण कर इसको चालू रखने वाला प्राण है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्र रश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

अर्थ—वह किरणों वाला (वैश्वानर अग्नि) समस्त का स्वरूप एवं उत्पन्न हुओं को जानने वाला, प्राणियों का आश्रय, एक मात्र ज्योति तपती है। सहस्र रश्मियों वाला, सैकड़ों प्रकार से व्याप्त होकर प्रजाओं का प्राण होकर उदय होता हुआ यह सूर्य है।

पूर्व मन्त्र में कहा गया है कि यह वैश्वानर अग्नि ही है। उससे पूर्व इस प्राण की उपमा सूर्य से दी थी। उसी उपमा के अनुरूप इस मन्त्र में कहा है कि वही प्राण जो रयि (प्रकृति) से मिथुन कर जगत् को रचता है, वह सहस्रों रश्मियों वाला है। यहां सहस्रों से अभिप्राय अगणित है। किरणों का अभिप्राय सूर्य की किरणें नहीं है। सूर्य का वर्णन तो केवल उपमा स्वरूप है। जैसाकि हमने बताया है कि प्राण सूर्य नहीं है। सूर्य की भांति यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति और उसके पदार्थों पर छाया हुआ है। अतः रश्मियों का अभिप्राय तरंग लहरें (waves) ही है।

यहां इतना बताना उपयुक्त होगा कि सूर्य से आने वाली किरणों को आधुनिक विज्ञान में क्वान्टम किरणें (Quantum rays) कहते हैं। यह मान्यता है कि उनमें बहुत सूक्ष्मरूप में प्रकृति के कण आते हैं। उन कणों को वैज्ञानिक क्वान्टम कहते हैं। क्वान्टम, मौलिक्यूल, ऐटम, एटोमिक पार्टिकल्स (Molecule, Atom, Atomic Particles) अर्थात् मरुत, परिमण्डल तथा परिमण्डलीय कण, जिन्हें आपः कहा जाता है, उनसे भी सूक्ष्म होते हैं। ये भार-रहित होते हैं। इनकी धारायें ही प्रकाश और ऊष्मा के रूप में सूर्य से आती हैं। यही सूर्य की अग्नि से अभिप्राय है।

परन्तु प्राण जो परमात्मा का तेज है, वह क्वान्टम की धारा नहीं। वह शुद्ध शक्ति ही है। इसकी धाराओं को ही रश्मियां कहा जाता है। इसको आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में वेव्ज़ (Waves) कहते हैं।

इतना और भी बता देना उपयुक्त होगा कि अधिकांश आधुनिक वैज्ञानिक वेव्ज़ को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि वे न तो परमात्मा को मानते हैं और न ही परमात्मा के प्राण को स्वीकार करते हैं।

तदपि वे कुछ ऐसा अनुभव करने लगे हैं कि क्वान्टम के अतिरिक्त कुछ और भी है। (देखिये हमारी पुस्तक 'विज्ञान और विज्ञान' पृष्ठ ११०-१११।) इस शक्ति का आभास वैज्ञानिकों को हुआ है और उसे उन्होंने गामा किरण कहकर छोड़ दिया है।

वैदिक मत यह है कि परमात्मा की अग्नि तरंगों, रश्मियों में ही चलती है जिसे अंग्रेजी में वेव्ज़ कहा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश और ऊष्मा तो क्वान्टम की धारायें हैं। वे वैदिक भाषा में इन्द्र के नाम से विख्यात हैं।

अतः उपनिषद् में यह कहा है कि प्राण सहस्रों और लाखों रश्मियों में फैलता है और यह सब पदार्थों में व्याप्त होकर उनको उनकी उचित अवस्था में रखता है।

यह वेद में माना गया है कि जब तक प्राण-रश्मियां प्रकृति के परमाणुओं पर आरूढ़ रहेंगी, तब तक रचना स्थिर रहेगी। उपनिषद् में भी यही कहा गया है कि रयि और प्राण का मिश्रण ही जगत् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते
चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।
त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामाः
दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते।
एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

अर्थ—प्रजापति के सम्वत्सर में उत्तरायण और दक्षिणायन नामक दो पक्ष हैं। जो इच्छाओं की पूर्ति में लीन रहते हैं वे चन्द्रलोक को जीत लेते हैं अर्थात् उसको प्राप्त कर लेते हैं। (रयि अर्थात् प्रकृति के बन्धन में फंसे रहते हैं।) वे ही जन्म-मरण के बन्धन में फंसे रहते हैं। इस प्रकार सन्तान की कामना करने वाले विद्वान् दक्षिण को चले जाते हैं। अर्थात् अनुचित मार्ग का अवलम्बन करते हैं।

प्रजापति के सम्वत्सर का अभिप्राय ब्रह्मा के वर्ष से है।

सूर्य सिद्धान्त में ब्रह्मा के वर्ष का नाम कल्प है। एक कल्प ८,६४,००,००,००० सौर वर्ष का होता है। इसमें ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष का दिन और इतने ही सौर वर्ष की रात्रि होती है।

उपनिषद्कार कह रहा है कि ब्रह्मा के एक वर्ष में दो पक्ष होते हैं। उसका अभिप्राय दिन और रात्रि से ही है अर्थात् ब्रह्मदिन और ब्रह्मरात्रि।

उसका कथन है कि जो जीव अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लीन रहता है वह चन्द्रलोक अर्थात् रयि की लपेट में आ जाता है। रयि का अर्थ हम ऊपर बता चुके हैं। रयि से अभिप्राय प्रकृति ही है। अर्थात् वे लोग ऋषि होने पर भी मनुष्य जीवन में कल्प-पर्यन्त रहते हैं। अर्थात् वे जन्म-मरण के बन्धन में कल्पान्तर तक रहते हैं।

अन्य भाष्यकारों ने मन्त्र में 'चान्द्रमसमेव' का अर्थ 'चन्द्र में ही चले जाते हैं' किया है। हमने मन्त्र १-५ में आदित्य और चन्द्रमा की परिभाषा बताई है। वहां आदित्य को प्राण कहा है अर्थात् प्राण की उपमा सूर्य से दी गई है। वैसे प्राण और आदित्य भिन्न-भिन्न हैं। समानता केवल रश्मियों के प्रसार में है। इसी प्रकार यहां पर चन्द्रमा से अभिप्राय उस नक्षत्र से नहीं है जो पृथिवी के चारों ओर घूम रहा है। उपमा का अभिप्राय केवल इतना है कि जिस प्रकार सूर्य की किरणें चन्द्रमा को प्रकाशित करती हैं वैसे प्राण प्रकृति को प्रकाशित करते हैं।

वही अभिप्राय इस मन्त्र में चन्द्रमा का है जो रयि की लपेट में आ जाता है। अर्थात् जो जन अपनी इच्छाओं की पूर्ति में संलग्न रहते हैं वे प्रकृति की लपेट में आ जाते हैं और जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानम-
न्विष्यादित्यमभिजयन्ते ।
एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न
पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ।। १० ।।

अर्थ—दूसरी ओर जो तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा आत्मा की खोज करते हुए आदित्य (प्राण) को जीत लेते हैं (प्राप्त कर लेते हैं) वे ही प्राण में निवास प्राप्त करते हैं। यह अमृत स्थान है। भय-रहित स्थान है। परम गति रहित है। इसमें निवास के बाद फिर वापस नहीं लौटते। यह अविरोध अर्थात् सीमारहित स्थान है।

इसी विषय में यह श्लोक है।

हम यह ऊपर बता चुके हैं कि चन्द्र स्थान का अभिप्राय प्रकृति से सम्बन्धित स्थान से है। यहां आदित्य से अभिप्राय है प्राण से सम्बन्धित। वे जीवात्मायें जो तपस्या का जीवन व्यतीत करती हैं। तपस्या से अभिप्राय है लक्ष्य प्राप्ति के लिये निरन्तर यत्न करना। जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है जो इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हैं और ऋतों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। श्रद्धा का अभिप्राय परमात्मा पर विश्वास रखने से है। विद्या से अभिप्राय है अक्षर अनादि पदार्थ का ज्ञान रखना। (यजु: ४०-१४)। इनके द्वारा जो आत्मा की खोज करते हैं।

आत्म तत्त्व दो हैं। एक, जो प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् होता है। और दूसरा तत्त्व केवल एक ही है जो कि सर्वव्यापक है। इन दोनों की खोज करने वाले, अभिप्राय यह कि उनका ज्ञान प्राप्त करने वाले, प्राणों के लोक में चले जाते हैं। हमारी दृष्टि में प्राणलोक केवल सूर्य में ही सीमित नहीं है।

यह वही लोक है जिसको प्राप्त करने वाले इसे असीम कहते हैं। किन्तु सूर्य-लोक तो सीमा वाला है।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ।। ११ ।।

अर्थ—पांच पैरों वाला सबका पिता है। उसकी बारह आकृतियां (रूप) हैं। यह कहा जाता है कि वह द्यु लोक के आधे भाग में तो स्वयं निवास करता है और दूसरे अर्द्धभाग को ऊपर से देखता है। उसके सात चक्र और छः अरे बताये गये हैं जो कि जगत् को अर्पित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार ने इस श्लोक को कहीं अन्यत्र से उद्धृत किया है। भाष्यकारों ने इस श्लोक को सूर्य की गतियों से सम्बन्धित किया है। हमारी दृष्टि में यह सम्बन्ध ठीक नहीं बन पाया है।

पांच पैरों को भाष्यकारों ने पांच ऋतुयें बताया है, जब कि सामान्यतया ऋतुयें छः मानी गयी हैं। इसी प्रकार सात चक्रों को सूर्य की रश्मियां बताया है। किन्तु अब तक यह सिद्ध हो चुका है कि सूर्य की रश्मियां सात नहीं, उससे कहीं अधिक हैं। सात रश्मियां तो वे हैं जो मानव को दिखाई देती हैं। दिखाई देने वाली वे सात रश्मियां हैं—आसमानी, नीली, बैंगनी, हरी, पीली, संतरी और लाल।

परन्तु आसमानी से ऊपर तथा लाल से नीचे भी सूर्य की अनेक रश्मियां हैं। उनको अंग्रेजी में अल्ट्रा वौयलेट ऐण्ड इन्फ्रा रैड रेज़ कहते हैं। यद्यपि वे मानव की आंख को दिखाई नहीं देतीं, तदपि उनकी विद्यमानता सिद्ध हो चुकी है। इसलिए भाष्यकारों का इस श्लोक में वर्णित सात चक्रों को सूर्य की सात रश्मियां सिद्ध करना अशुद्ध है।

द्वादश आकृतियों को एक वर्ष के बारह मास बताया है। किन्तु मास सूर्य की आकृतियां नहीं हो सकतीं। मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए वर्ष को इस प्रकार बारह मासों में विभक्त किया है। इसी कारण किसी स्थान पर कोई मास छोटा है तो अन्य स्थान पर अन्य मास छोटा है। यदि मासों का समय सूर्य की आकृतियों से होता, तो ये छोटे-बड़े नहीं होते। अतः हमारी दृष्टि में भाष्यकारों द्वारा इस श्लोक की जो व्याख्या की गई है, वह श्लोक की भाषा से ठीक नहीं बैठती।

एक कारण यह भी है कि उपनिषद्कार ने इस श्लोक को प्राणलोक की व्याख्या में उल्लेख किया है।

हमारा यह दृढ़ मत है कि इस श्लोक में जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह सूर्य अथवा वर्ष इत्यादि से किंचित् भी सम्बन्धित नहीं है। उसका सम्बन्ध तो मनुष्य शरीर के प्राण से है।

यद्यपि इस श्लोक में कुछ भी स्पष्ट नहीं है तदपि इतना निश्चित है कि इसका सूर्य, ऋतु, मास, वर्ष आदि से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है।

सम्भवतया उपनिषद्कार का यह अभिप्राय होगा कि शरीर में ज्ञान प्राप्त करने के पांच पाद हैं और इनके बारह रूप हैं। अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और उनके बारह विषय हैं।

यद्यपि पांच इन्द्रियों के पांच ही विषय बताए गये हैं। तब प्रश्न उठता है कि ये बारह विषय क्या हैं? हम भी इसे समझाने में असमर्थ हैं। श्लोक का रचयिता इन पांच पादों के बारह रूप बता रहा है। उन रूपों को उसने स्पष्ट नहीं किया है, अतः यह कहना कठिन है कि वे बारह रूप क्या हैं। सम्भवतया पांच तो इन्द्रियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा स्वीकार किए जाने वाले विषय हैं और पांच ही अस्वीकार किए जाने वाले अविषय हैं। ग्यारहवां मन का चिन्तन और बारहवां बुद्धि की विचार शक्ति हो सकती है। ये बारह प्राणों से सम्बन्धित होने से प्राणों के बारह रूप कहे जा सकते हैं।

आधे में यह पिता अर्थात् प्राण ठहरा है। इसका अभिप्राय हम यह समझते हैं कि आधे में प्राण अर्थात् परमात्मा की शक्ति रहती है। इसका यह भी अभिप्राय हुआ कि आधे में वह शक्ति नहीं रहती।

जो पांच अविषय हैं उनमें प्राण नहीं होते। उदाहरण के रूप में आंख का विषय है 'प्रकाश'। इसका अविषय है 'अप्रकाश'। प्राण प्रकाश में तो है किन्तु अन्धकार में नहीं है। इसी प्रकार कान का विषय है 'शब्द' उसका अविषय है 'शब्द-शून्यता'। शब्द में प्राण है किन्तु शब्द-शून्यता में प्राण नहीं है।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय, अविषय के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। विषयों में प्राण विद्यमान है, किन्तु अविषयों में वह विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार बुद्धि में प्राण कार्यरत है किन्तु मूढ़ता और अबुद्धि के कार्यों में परमात्मा का प्राण कार्य नहीं करता।

सात चक्रों का अभिप्राय भी शरीर में चेतना के सात चक्रों से है। इन स्थानों पर शिराओं के केन्द्र होते हैं।

योग में ध्यान लगाने के लिए इनका वर्णन किया जाता है क्योंकि उपनिषद्कार आदित्यप्राण लोक को मानता है। इस कारण ही हम समझते हैं कि प्राणलोक के शेष अंशों का भी इस श्लोक में वर्णन किया गया है।

यह कहा जाता है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात् जैसा शरीर में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में भी है।

मासो वै प्रजापतिस्थस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः।
प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥ १२॥

अर्थ—मास प्रजापति है, कृष्णपक्ष रयि है, शुक्लपक्ष प्राण है। ऋषि लोग इष्ट की पूर्ति शुक्लपक्ष में ही करते हैं। अन्य जन कृष्णपक्ष में करते हैं।

जो अलंकार उपनिषद्कार ने आरम्भ किया था, वही अभी तक चल रहा है। उपनिषद्कार का कथन था कि आदित्य प्राण है, चन्द्रमा रयि है। यह अलंकार ही था। हमने इसका यह अभिप्राय बताया है कि जिस प्रकार सूर्य से चन्द्र प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है वैसे ही प्राण प्रकृति को सजग कर देता है।

यहां यह कहा है कि मास प्रजापति है। प्रजापति अर्थात् परमात्मा प्राण और रयि दोनों पर अधिकार रखता है। जब मास को प्रजापति कहा गया तो उसके अधिकार में शुक्लपक्ष को प्राण कह दिया।

साथ ही यह कह दिया है कि बुद्धिमान लोग प्राण अर्थात् परमात्मा की शक्ति से कार्य करते हैं। जैसा कि कहा गया है कि वे शुक्लपक्ष में यज्ञादि करते हैं और मूर्खजन प्रकृति के आकर्षण में फंसे रहते हैं। तब ऐसा मानना चाहिए कि वे कृष्ण-पक्ष में यज्ञादि करते हैं।

इसका यह अभिप्राय स्पष्ट है कि प्राणों में अर्थात् परमात्मा की शक्ति में, विचरण करना चाहिये।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ।। १३ ।।

अर्थ—दिन रात भी मास की भांति प्रजापति हैं। दिन प्राण हैं और रात रयि है। अतः जो दिन के समय मिथुन करता है उसके प्राण सूख जाते हैं। रयि रात है। रयि से रात्रि का मेल स्वाभाविक होने से रात को मिथुन करने वाला ब्रह्मचारी ही है।

उपनिषद्कार यहां पर उपमा को सीमा के पार तक ले गया है। यह उपमा कदाचित् इस कारण ठीक नहीं कि इसका वर्णन मिथ्या है। वैसे हम भी यह स्वीकार करते हैं कि संयोग रात्रि को ही सुखकारक है। परन्तु वह इस कारण नहीं कि दिन प्राण है और रात रयि है। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है जो कि मनुष्य के दूसरे दिन के कार्य से सम्बन्धित है। इनका सूर्योदय अथवा सूर्यास्त से सम्बन्ध नहीं। जिन देशों में रात्रि बहुत लम्बी और दिन बहुत छोटा होता है उनके सम्बन्ध में यह उपमा मिथ्या सिद्ध हो जायेगी।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ।। १४ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R089.9143
GUR P
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
General Library
167541
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

अर्थ—अन्न भी प्रजापति का रूप है। इससे ही वीर्य उत्पन्न होता है और प्रजायें उत्पन्न होती हैं।

यहां अन्न से अभिप्राय प्रकृति नहीं है, अपितु खाद्यान्न जैसे गेहूं, चावल आदि से है।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।१५।।

अर्थ—गृहस्थ जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे भी प्रजापति हैं।

सन्तान उत्पन्न करने वाले को प्रजापति व्रत पालन करने वाला कहा है।

प्रजायें मिथुन से उत्पन्न होती हैं। इनमें से जो तप और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं तथा जिनमें सत्य, (वह शक्ति) जिससे जगत् की रचना हुई है अर्थात् प्राण प्रतिष्ठित हैं, वे ब्रह्मलोक को जाते हैं।

सत्य रचित जगत् है, इसको रचने वाला प्राण, परमात्मा है। अतः परमात्मा को मन में प्रतिष्ठित करने वाला ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। कहा है कि जो भोग को चित्त में धारण नहीं करते, वे ब्रह्मलोक को जाते हैं।

तप का अर्थ हम ऊपर समझा आये हैं। ब्रह्मचर्य से अभिप्राय है इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में रखना। जो यत्न से इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखते हैं, उनके विषय में ही यहां कहा गया है कि वे ब्रह्मलोक के वासी बनते हैं।

इन दो बातों के अतिरिक्त यहां यह भी कहा है कि जो सत्य को ही धारण करते हैं अर्थात् जो परमात्मा की शक्ति प्राण का आश्रय लेते हैं और रयि अर्थात् प्रकृति का आश्रय नहीं लेते।

कत्य के पुत्र कबन्धी ने पूछा था कि प्रजायें कहां से उत्पन्न होती हैं। इसके उत्तर में कहा है कि प्रजापति अर्थात् परमात्मा का आधिपत्य दो शक्तियों पर है। एक प्राण और दूसरा रयि अर्थात् प्रकृति। इन दोनों के मिथुन से प्रजायें उत्पन्न होती हैं।

परमात्मा से लेकर तुच्छ से तुच्छ प्राणी तक इन दो शक्तियों से ही सन्तान अर्थात् प्रजा उत्पन्न करते हैं।

उपनिषद्कार ने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि दो के संयोग से ही रचना कार्य होता है। इन दोनों के स्वामी का नाम प्रजापति है।

प्राणियों तथा निर्जीव पृथिवी, भूतादि में भी, दो शक्तियों के संयोग से ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना होती है। यह सार्वभौमिक नियम है।

मूल रूप में इन दो शक्तियों का नाम बताया है—प्राण और रयि। इन दोनों शक्तियों को जब परमात्मा सजग करता है तब रचना आरम्भ हो जाती है। यद्यपि यहां यह स्पष्ट नहीं किया कि दोनों विद्यमान तो पहले से ही रहते हैं और दोनों को परमात्मा कार्यरत करता है तथा दोनों में मिथुन आरम्भ होता है। मिथुन से ही रचना कार्य होता है।

द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ।
भगवन्कत्येव देवाः प्रजा विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते
कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥
तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः
पृथिवि वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च।
ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

अर्थ—इसके बाद भार्गव कुलोत्पन्न वैदर्भि ने पूछा, "भगवन्! कृपया बताइये कि कितने देव प्रजाओं को धारण करते हैं? कितने इनको प्रकाशित करते हैं और इनमें से वरिष्ठ कौन है?

यह सुनकर ऋषि ने उत्तर दिया, "आकाश दिव्यगुण वाला है। इसके साथ ही वायु, अग्नि, आपः, पृथिवी, वाणी, मन और चक्षु भी दिव्य गुणयुक्त हैं। ये सभी देह को धारण करते हैं। वे सब कहने लगे कि हम ही प्रकाशित करते हैं। इस पर उनमें विवाद उत्पन्न हो गया। प्रत्येक कहने लगा कि मैं ही सबको प्रकाशित करता हूं इसलिए मैं ही मुख्य हूं।

इस उपनिषद् का प्रथम प्रश्न था कि इस जगत् के पदार्थों की रचना कौन करता है? अब द्वितीय प्रश्न किया गया है कि इसको धारण और प्रकाशित करने वाला कौन है? अभिप्राय है कि कौन इसको 'सजग' करता है?

वे देव कौन हैं? देव का अभिप्राय दिव्यगुण युक्त पदार्थ से है।

उपनिषद्कार ने बताया है कि संसार के पदार्थों को धारण करने वाले देवता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो आकाश, अग्नि, वायु, आपः, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्र हैं।

प्रकाशित से अभिप्राय है दूसरों को अपने प्रकाश में सजग करने वाला। इस गुण के विषय में देवताओं में परस्पर विवाद उत्पन्न हो गया। यहां पर अलंकार आरम्भ हो गया है। केनोपनिषद् में जैसे परमात्मा और देवताओं में विवाद उत्पन्न हो गया था, वैसा ही कुछ यहां भी विवाद उत्पन्न हो गया कहा है।

यहां पर देवताओं की गणना करते हुए आकाश आदि को देवता बताया है और उनको जागृत अर्थात् शरीर धारण करने वाला भी बताया है।

यहां पर आकाश से अभिप्राय पंच भौतिक आकाश नहीं है। अपितु उसका अभिप्राय है विश्व, व्योम—स्पेस। यह व्योम में ही पूर्ण जगत् जिसकी रचना है, स्थित है। प्रजाओं से अभिप्राय केवल प्राणी ही नहीं अपितु समस्त रचित अथवा निर्मित पदार्थों से है। इसमें प्राणी सृष्टि और अप्राणी सृष्टि, दोनों ही सृष्टियां समाहित हैं।

देवताओं की गणना के अवसर पर पृथिवी की गणना पृथक् की गई है। वेद और शास्त्रों की यह शैली है कि जहां पदार्थों की किसी श्रेणी का वर्णन करना होता है वहां उस श्रेणी के एक पदार्थ का नाम लिखकर उस पूर्ण श्रेणी का अभिप्राय मान लिया जाता है। अतः पृथिवी से अभिप्राय हुआ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। पृथिवी से अभिप्राय इन पांचों महाभूतों से है। वायु और अग्नि परमात्मा की शक्ति के दो रूप हैं। ये भी जगत् के पदार्थों का संरक्षण करते हैं। आपः नाम है तीन प्रकार के प्रकृति के परमाणुओं के निबन्धनों का। इन तीनों के नाम सांख्य में इस प्रकार दिए गये हैं—तेजस् अहंकार, वैकारिक अहंकार और भूतादि अहंकार। वेद में इनको मित्र, वरुण और अर्यमा की संज्ञा दी गई है। ये तीनों भी जगत् के पदार्थों को धारण करते हैं। पृथिवी से अभिप्राय उन पंचभौतिक पदार्थों का है जिनकी गणना ऊपर की गई है। वाणी का अभिप्राय पंच कर्मेन्द्रियों से है। चक्षु से पांचों ज्ञानेन्द्रियों का अभिप्राय है। ये सब देह को धारण और उसका रक्षण करते हैं।

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच।
मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥ ३॥

अर्थ—तब सबसे श्रेष्ठ प्राण बोला, "तुम मोह में न पड़ो। मैं पांच भागों में विभक्त हुआ पूर्ण शरीर को धारण कर रहा हूं।" किन्तु दूसरे देवों को उस पर विश्वास नहीं हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मन्त्र में जगत् तथा शरीरों अर्थात् प्रजाओं को धारण करने वालों के नाम बताये गये हैं। उन नामों में प्रकाश करने वाले का नाम नहीं है। वह अगले मन्त्र में बताने के लिए 'प्राण' का नाम कह दिया है। प्राण, अग्नि, वायु ये तीनों ही परमात्मा की शक्ति के नाम हैं। यह प्राण केवल प्राणियों में ही कार्य नहीं करता अपितु यह जगत् में भी कार्य करता है। प्राण गति का सूचक है।

ब्रह्मसूत्र में कहा गया है—

कम्पनात् ।।ब्र० सू० १-३-३९।।

अर्थ—कम्पन कराने से (वह प्राण है)।

अभिप्राय यह कि प्राण का सम्बन्ध पदार्थों के कम्पन से है। यही कारण है कि परमात्मा भी प्राण माना जाता है।

इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर कहा है—

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।।ब्र० सू० २-४-५।।

अर्थ—सात विशेष गतियों के होने के कारण प्राण की उपस्थिति प्राणी में मानी है।

अभिप्राय यह हुआ कि गति प्राण के कारण ही होती है। चाहे वह जड़ पदार्थ हो अथवा चेतन पदार्थ। कम्पन और गति में विशेष अन्तर यह है कि जड़ पदार्थ एक केन्द्र बिन्दु के आर-पार ही समानरूपेण गति करते हैं और जीवित प्राणी में गति की तो विशेषता ही है। उसमें एक ही अथवा अनेक दिशाओं से भी गति होती है।

उपनिषद्कार प्राण का वर्णन केवल जीवित प्राणियों में कर रहा है। परन्तु यह सिद्ध है कि जड़ पदार्थों में भी यदि गति होती है तो वह भी परमात्मा के प्राण के कारण ही होती है।

उपनिषद्कार ने कहा है कि वह प्राणी के शरीर में प्रायः पांच प्रकार की गतियों को कर रहा है। ये पांच प्रकार के प्राण। ये हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। इन गतियों को करने वाला श्रेष्ठ प्राण कहा जाता है।

इन गतियों के कारण ही प्राण को श्रेष्ठ कहा गया है। शरीर में इन गतियों के अतिरिक्त भी अन्य गतियां हैं। वे जीवात्मा के अधीन होती हैं। वे श्रेष्ठ नहीं कहातीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकर राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—अन्य देवताओं को श्रेष्ठ प्राण का विश्वास न करते देख प्राण शरीर छोड़कर बाहर जाने लगा तो दूसरे देवता भी शरीर छोड़ते हुए अनुभव करने लगे। श्रेष्ठ प्राण जब लौटकर आने लगा तो अन्य देवता भी स्थिरता का अनुभव करने लगे। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार मधुमक्खियों की रानी जब छत्ता छोड़ने लगती है तो अन्य मक्खियां भी उसके साथ छत्ता छोड़कर चलने लगती हैं। यदि वह लौट आती है तो वे अन्य मक्खियां भी उसके साथ ही लौटकर आ जाती हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिष्ठावान के कारण ही अन्य सब प्रतिष्ठित होते हैं। इस कारण वाणी, मन, चक्षु आदि सभी श्रेष्ठ प्राण की स्तुति करने लगे।

यहां श्रेष्ठ प्राण और उसके पांच भाग प्राणी के शरीर की बात कही गई है। इसी प्रकार प्राण जगत् में भी कार्य करते हैं। प्राण के अतिरिक्त अन्य देवता भी हैं परन्तु वे सब प्राण के समान व्यापक कार्य नहीं करते। प्राण देवताओं के अंग-प्रत्यंग को भी संयुक्त किये हुए हैं। इस कारण जगत् में भी प्राण के आश्रय ही अन्य देवताओं का कार्य है।

अथर्ववेद में भी प्राण के विषय में कहा है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

॥अथर्व० ११-४-१॥

अर्थ—प्राण के लिए हमारा नमस्कार हो। इस जगत् में सबकुछ उसके वश में है जो स्वयम्भू है। जिससे सब कुछ प्रतिष्ठित है। अर्थात् प्राण सबको धारण भी करता है और प्रकाशित भी करता है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—अग्नि में तपने वाला प्राण ही है। वह सूर्य है, वह पर्जन्य है, वही इन्द्र है, वायु है, पृथिवी है और वह देव ही रयि है। जो दृश्य, अदृश्य और अमृत है, वह प्राण ही है।

इस मन्त्र में कुछ ऐसा कहा गया है जो कि ऊपर कहे हुए के विपरीत है। वेद के भी विपरीत है। इससे पूर्व प्रश्नोपनिषद् १-४ में उपनिषद्कार ने कहा है—

स प्तपोऽतयत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।
रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यति॥

अर्थ—प्रजापति ने तप किया और उसके फलीभूत मिथुन से प्राण और रयि चेतन हुए तथा उनसे प्रजायें बनीं।

उत्पन्न तो न प्राण हुआ और न रयि। प्रजापति के यत्न से इनमें परस्पर संयोग अर्थात् मिथुन हुआ।

वेद में कहा है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीतवातं स्वधया तदेकं तस्माद् धान्यन्न परः किं चनास॥

॥ऋ० १०-१२९-२॥

अर्थ—उस रचना से पूर्व न कुछ टूट-फूट रहा था और न बन ही रहा था। उस समय दिन-रात भी नहीं थे। कुछ अनुभव होने के योग्य नहीं था। वहां एक अचलायमान शक्ति थी जो स्वधा के साथ थी। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं था।

वेद में आगे कहा है—

तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

॥ऋ० १०-१२९-३॥

अर्थ—रचना से पूर्व अन्धकार से आच्छादित अचेतन प्रकृति थी, तब महिमावान् एक प्रकट हुआ।

इस मन्त्र में पहले से विद्यमान दो पृथक्-पृथक् वस्तुओं के विषय में कहा है। एक तो आनीत्-अवातम् अर्थात् न हिलने-डोलने वाला प्राण और दूसरी स्वधा तमोभूत प्रकृति—अन्धकारमय।

हम समझते हैं कि उपनिषद्कार का भी वही मन्तव्य है जो वेद का है। प्रजापति ने तप किया और मिथुन हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि तप के समय दो तत्त्व समक्ष आये, एक प्राण और दूसरा रयि—आनीत्-आवतम् और प्रकृति।

उपनिषद्कार का भी वह अर्थ ग्रहण करना चाहिए जो वेद में विहित है।

वेद में आगे कहा गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।

।।ऋ० १०-१२९-४।।

अर्थ—आरम्भ में कामना सर्वत्र विद्यमान होती है, यह बीज था। महान् विद्वान् परमात्मा के हृदय में ज्ञान शक्ति से प्रेरित अव्यक्त, प्रकृति से व्यक्त रचित जगत् के पदार्थ संगठित होते हैं।

अतः ऋषि यही कह रहा है कि परमात्मा की कामना से प्राण और रयि में मिथुन हुआ।

इसके अनन्तर भी वेद में कहा है, जो हमने इसी उपनिषद् के मन्त्र १-६ की विवेचना में उल्लेख किया है। वह प्राण और रयि के मिथुन की व्यवस्था के अन्तर्गत है।

विवेच्य मन्त्र में कहा गया है कि प्राण ही रयि है। अग्नि होकर तप रहा है। यह सूर्य है, यह पर्जन्य है, यह इन्द्र है, वायु है, पृथिवी है, यही रयि है। वेद के मतानुसार प्राण, अग्नि, वायु तो हैं तथा सूर्य की ऊष्मा भी है किन्तु रयि पृथिवी और चन्द्रमा वह नहीं है।

उपनिषद् ने स्वयं प्रश्न एक के उत्तर में कहा है कि सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है।

हम समझते हैं कि मनोद्गारों की लय में हीं यह कहा गया है कि प्राण ही रयि है। वह कह चुका है कि प्राण पृथक् है। प्राण सूर्य है और रयि चन्द्रमा है। यहां दोनों को ही प्राण कह दिया है।

कदाचित् वह यह कहना चाहता है कि रचित जगत् के समस्त पदार्थ प्राण से प्रकाशित जाने जाते हैं। उपनिषद्कार ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। मन्त्र १-७ में वह स्वयं कह चुका है कि प्राण वैश्वानर है जो समस्त पदार्थों का रूप बनाता है। प्राण ही अग्नि को उदय करता है। परन्तु वह सब कुछ है, ऐसा नहीं। प्राण ईश्वरीय शक्ति है। वह प्रकृति से पृथक् है। प्राण और प्रकृति का मिथुन होता है और तब जगत् के सब पदार्थ बनते हैं। वेद का यही मत है और उपनिषद्कार भी यह कह चुका है।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ।। ६ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—जैसे रथ की नाभि से अरे जुड़े रहते हैं वैसे ही सब प्रजाओं अर्थात् पदार्थों में प्राण प्रतिष्ठित है। यहां तक कि ऋक्, यजुः, साम की ऋचाओं में भी वही उपस्थित है। यह कर्म लोक कल्याण के कर्म में क्षत्रिय कर्म और ब्राह्मण कर्म में भी प्राण ही प्रकाशित है।

वास्तव में मन्त्र २-५ की आवश्यकता ही नहीं थी। जो कुछ उपनिषद्कार अपने पूर्व मन्त्रों में स्पष्ट कर चुका है तथा जो कुछ उसने मन्त्र २-६ में कहा है, उस परिपेक्ष्य में मन्त्र २-५ न केवल अनावश्यक ही है अपितु वह पूर्ण उपनिषद् के भाव के विपरीत भी प्रतीत होता है। उपनिषद् में यह भी बताने का यत्न किया गया है कि जब प्राण रयि से मिथुन करता है तब जगत् के सब पदार्थ बनते हैं। अतः प्राण उन सबमें प्रतिष्ठित है। प्रतिष्ठित का अभिप्राय है कि वह उन सब में विद्यमान है, स्थित है।

इसके लिए नाभि में अरे संयुक्त होने की उपमा दी है। परन्तु अरे नाभि नहीं है। न वह रथ ही है।

प्राण सब में विद्यमान रहकर रचना कार्य को चालू किये हुए है।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

अर्थ—तुम ही गर्भ में पालन करने वाले प्रजापति हो जाते हो। गर्भ में तुम ही प्रतिजायसे अर्थात् बाद में उत्पन्न होते हो। प्रजायें तुम्हारे लिए ही भेंट लाती हैं जो कि प्राणों के लिए प्रतिष्ठित होती है।

उपनिषद्कार कह रहा है कि गर्भ में प्राण ही भ्रूण का निर्माण और पालन करता है। गर्भाशय में वीर्य और डिम्ब का संयोग प्राण के कारण ही होता है और फिर भ्रूण का पालन मां के रक्त से होता है जो प्राण से ही बहाकर गर्भ में ले जाया जाता है। अतः प्राण ही भ्रूण का पालक है। यहां प्रजापति का अभिप्राय केवल उसके पालन कार्य से ही है। गर्भ में जो भ्रूण को मां का रक्त मिल रहा है, उसे हवि कहा है। वह हवि मां के शरीर में प्राण ही बहाकर भ्रूण के पास लाता है।

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—दिव्य गुणवालों अर्थात् देवताओं में श्रेष्ठ अग्नि तू है। पितरों, अर्थात् अमैथुनीय उत्पन्न मानवों में तू स्वधा है। अपने को धारण करने वाला तू है। और अंगिरा ऋषियों का तू सत्य अस्तित्व होने में कारण है।

अग्नि ही श्रेष्ठ प्राण है और अग्नि की स्तुति ऋ० १-१-१ में की गयी है और वहां यह भी बताया गया है कि यह रचना से पहले भी विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त भी इस संसार में अग्नियां हैं। वैश्वानर अग्नि इस श्रेष्ठ अग्नि का ही रूप है। परन्तु विद्युत्, कोयला अथवा लकड़ी में जो अग्नि है वह सर्वथा पृथक् है। इसे 'जातवेदः' अग्नि कहते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में इसे रासायनिक शक्ति अर्थात् कैमिकल ऐनर्जी कहते हैं। वेद में इसे इन्द्र के नाम से कहा गया है। यह भी कहा है कि प्राण पितरों में पहला स्वधा है। स्वधा उसको कहते हैं जो स्वयमेव धारण होकर रहे। पितर उन प्राणियों का नाम है जो अमैथुनीय कहे जाते हैं। सृष्टि के आरम्भ में कुछ प्राणी उत्पन्न हुए थे जिनकी सन्तान हम सब हैं। वे स्वयमेव उत्पन्न होकर स्वयमेव ही अपना पालन पोषण करने में समर्थ थे। इस कारण उनको स्वधा भी कहा है।

ऋषियों का व्यवहार उनका सत्य चरित्र भी यह प्राण ही है। इस प्रकार ही कहा गया है कि अथर्व और अंगिरा भी तुम ही हो।

अथर्व के विषय में हमने मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि यह ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है। अतः यह इन्द्र है। अंगिरा आदि छः महर्षि भी ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। अतः यहां उनको भी ईश्वर की प्राण शक्ति कहा है। इस प्रकार कहा है कि सम्पूर्ण जगत् प्राण की ही प्रेरणा से बना है।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि प।।रक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ ९॥

अर्थ—हे प्राण! अपने तेज से तू इन्द्र है। अपने रक्षण से तू रुद्र है। तू ही अन्तरिक्ष में विचरने वाला ज्योतियों का समूह सूर्य है। अभिप्राय यह कि इन ओजस्वी पदार्थों में तू ही उनका ओज है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ १०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—हे प्राण ! जब तुम वर्षा करते हो तो सब प्रजायें आनन्दित हो उठती हैं कि अब कामना के अनुसार अन्न होगा।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः॥ ११॥

अर्थ—हे प्राण ! तुम व्रात्य, संस्कार-शून्य हो। तुम एक ऋषि, ज्ञानवान् हो। विश्व को खा जाने वाले, प्रलय करने वाले, अनादि सत् हो। हम तुम्हारे भोजन की वस्तु हैं। अर्थात् हम नाश होने वाले हैं। हे पिता ! तुम मातरिश्वा, संगठनकर्ता, वायु हो।

मातरिश्वा उस अग्नि को कहते हैं जिसकी गति से सब संसार के पदार्थ संयुक्त हैं।

प्राण को व्रात्य अर्थात् संस्कार शून्य कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि इस के रूप में संशोधन नहीं होता।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ १२॥

अर्थ—हे प्राण ! जो तेरा स्वरूप, कार्य, वाणी, कान और चक्षु में बना हुआ है और जो मन में फैला हुआ है, वह ह्रास को प्राप्त न हो। सदा कल्याणकारी बना रहे।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ १३॥

अर्थ—जो कुछ इन तीन लोकों, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, में प्रतिष्ठित है, सब प्राण के वश में ही है। जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही वह हमारी रक्षा कर हमें श्री (लक्ष्मी) और बुद्धि प्रदान करे।

पिप्पलाद ऋषि ने विदर्भि भृगु वंशज के प्रश्न के उत्तर में कहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इस संसार, जड़ और चेतन जगत को धारण करने वाले देवता हैं—अग्नि, वायु, आपः, पृथिवी, वाक्, मनः, चक्षु और श्रोत्र।

ऋषि ने यह भी बताया है कि इस कार्य जगत् को प्रकाशित क्रियाशील करने वाला केवल प्राण है। प्राण परमात्मा की शक्ति है, जो गति उत्पन्न करती है और दिव्य गुण वाली है।

तृतीय प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ।
भगवन्कुत एष प्राणो जायते
कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा
प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते
कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

अर्थ—अब प्राण की महिमा सुनकर अश्वल के पुत्र कौशल्य ने ऋषि से पूछा, "भगवन्! यह प्राण किससे उत्पन्न होता है? वह किस प्रकार इस शरीर में आता है और किस प्रकार अपने को विभक्त कर इसमें प्रतिष्ठित होता है। यह किस द्वार से बाहर निकला करता है। बाहर के जगत् को कैसे धारण करता है और अध्यात्म को कैसे धारण करता है।"

प्राण के स्रोत, शरीर और शरीर से बाहर इसके कार्य तथा यह शरीर में किस प्रकार आता-जाता है इस विषय में प्रश्न पूछा गया है।

तस्मं स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि
ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

अर्थ—तब उसको ऋषि ने उत्तर देते हुए कहा, "तुमने अति सूक्ष्म प्रश्न पूछा है। सामान्य व्यक्ति को यह बताना कठिन है, किन्तु तुम ब्रह्म-निष्ठ हो, इसलिए तुमको बताता हूं।"

ब्रह्मनिष्ठ का अभिप्राय है ज्ञानस्वरूप परमात्मा में विश्वास करने वाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे
छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ।। ३ ।।

अर्थ—आत्मा (परमात्मा) से यह प्राण उत्पन्न (प्रकट) होता है। जैसे वस्तु की छाया उसके साथ ही रहती है उसी प्रकार यह प्राण आत्मा के साथ रहता है। मन की इच्छा (संकल्प) करने से ही यह शरीर में आता है।

यहां कहा है कि 'प्राण' आत्मा से उत्पन्न होता है। यद्यपि आत्मा से अभिप्राय परमात्मा का है। परन्तु स्पष्ट परमात्मा न लिखने से भ्रम हो जाता है। प्राण परमात्मा की शक्ति है, किन्तु उसके साथ ही यह जीवात्मा नाम का पदार्थ भी है। उसको भी आत्मा कहा जाता है। अतः यहां पर भ्रम के लिए स्थान है। परमात्मा और जीवात्मा में स्पष्ट भेद है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा
ह्येका भोक्तृ भोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।। श्वे० १-९ ।।

अर्थ—एक ज्ञानवान् है और दूसरा ज्ञानहीन। दोनों अजा अर्थात् अजन्मा, अनादि तत्त्व हैं। अनादि तत्त्व एक तीसरा भी है। वह अज्ञानी के लिए भोग की सामग्री प्रस्तुत करता है। वह अजर जो अनन्त है और समस्त रूपों को बनाने वाला है, वह अकर्ता है। इन तीन ब्रह्म को जो जानता है वह ही जानता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि आत्म तत्त्व दो हैं। इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। उपनिषद्कार के इस मन्त्र के निम्नलिखित उद्धरण से भ्रम में और भी वृद्धि होती है—

मनोकृतेनायात्यस्मिन्शरीरे।

अर्थ—मन से संकल्प करने से इस शरीर में आता है।

यह कथन भ्रमोत्पादक है। यह इस कारण कि जब पुरुष कण (Sperm) और स्त्री कण (Ovum) मिले नहीं होते तो उस समय मन कहां होता है? जब ये दोनों मां के गर्भाशय में संयुक्त होते हैं तब मन कहां होता है? पूर्व जन्म का मन तो पूर्व शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। नया मन भ्रूण में कब उत्पन्न होता है, इसका वर्णन कहीं नहीं किया गया है। फिर उत्पन्न होने के उपरान्त यह कब इच्छा करता है? यह सब किसी भी अन्य शास्त्र अथवा ज्ञान-विज्ञान के किसी ग्रन्थ में भी वर्णित नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार मन और जीवात्मा में भेद नहीं कर रहा है। उसने कहा है 'मनः कृते' अर्थात् मन के करने पर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु यह अशुद्ध है कि मन अथवा जीवात्मा के किसी प्रयत्न से प्राण शरीर में आता है। वास्तविकता यह है कि प्राण परमात्मा की शक्ति है और परमात्मा द्वारा ही यह निर्माणाधीन बालक के शरीर में आता है। बालक के कर्मफलों के अधीन उसको परमात्मा से प्राण प्राप्त होते हैं। मन का इसमें कोई सहयोग नहीं है।

इस मन्त्र में ऋषि कहता है कि प्राण आत्मा ने उत्पन्न किया। आत्म तत्त्व दो हैं, एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। उपनिषद्कार प्रश्न १-७ में कह चुका है कि 'स एष वैश्वानर विश्वरूपः' अर्थात् वह प्राण वैश्वानर और समस्त रूपों का कर्ता है। यह मनुष्य शरीर में विद्यमान आत्मा नहीं हो सकता। वैश्वानर की महिमा वेद में वर्णित है। ऋग्वेद में कहा है—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानाममिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥

॥ ऋ० १-९८-१ ॥

अर्थ—वैश्वानर बहुत अच्छी मति के अर्थात् परमात्मा की प्रेरणा के, अधीन कार्य करता है। वह सम्पूर्ण भुवनों (नक्षत्रों) का राजा है। यह सब कुछ इससे ही उत्पन्न होता है। सूर्य के साथ यह यत्न से सबको प्रकाशित करता है।

प्राण जीवात्मा से उत्पन्न नहीं हुआ अपितु यह परमात्मा से प्रकट हुआ है।

प्राण को आत्मा की छाया बताया गया है। परन्तु प्राण तो सूर्य, चन्द्र इत्यादि को चलाता है। इस स्थिति में यह जीवात्मा की छाया मात्र नहीं हो सकता।

इतना अवश्य सत्य है कि जैसे छाया वस्तु के साथ रहती है, उसी प्रकार यह प्राण भी परमात्मा के साथ रहता है। यह सत्य होते हुए भी जो उपमा दी गई है वह ठीक नहीं है। क्योंकि छाया का तो कुछ भी अस्तित्व नहीं होता। प्रकाश के अभाव को छाया कहते हैं। अतः यहां इसका प्रयोग अशुद्ध है। यह परमात्मा का लिंग है, छाया नहीं। लिंग वस्तु का वह गुण होता है जो सदा वस्तु के साथ रहे और वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य का गुण न हो। पुरुष और पुरुष की छाया को प्राण कहने से अधिक उपयुक्त यह होगा कि इसे परमात्मा का लिंग कहा जाये।

प्राण उत्पन्न नहीं होता। इसका अस्तित्व तब से ही है जब से परमात्मा है। अर्थात् यह भी परमात्मा की भांति अनादि है।

अतः हमारा यह मन्तव्य है कि यह मन्त्र ऋषि द्वारा अपने ही पूर्व कहे गये मन्त्र के विपरीत है। यह या तो भूल है अथवा कालान्तर में इसे किसी ने प्रक्षिप्त कर दिया है। प्रश्न २-९ में ऋषि ने कहा है 'हे प्राण! तू इन्द्र है। सबकी रक्षा करने से तू रुद्र है। तू संसार की ज्योतियों की ज्योति सूर्य के रूप में अन्तरिक्ष में विचरण करता है।'

इस प्रकार यह जीवात्मा का उत्पन्न किया हुआ नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्र में इसका वर्णन मिलता है। परमात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए वहां कहा है—

प्राणस्तथाऽनुगमात् ।। ब्र० सू० १-१-२८ ।।

अनुगमन होने से प्राण ही परमात्मा है।

उसके बाद कहा है कि शरीर में परमात्मा की शक्ति पाये जाने से। वह इस प्रकार है—

दहर उत्तरेभ्यः ।।
गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंगं च ।।
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।।
प्रसिद्धेश्च ।।
इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ।।

।। ब्र० सू० १-३-१४, १५, १६, १७, १८ ।।

अर्थ—दहर अर्थात् गुहा में विद्यमान का वर्णन आगे किया गया है।
शरीर में गतियों से उसका दर्शन होता है।
दूसरों को धारण करने से इसकी महिमा है।
यह प्रसिद्ध है।

परमात्मा की अपनी शक्ति दूसरे की राय से शरीर में काम करती है। सम्भव होने से (सम्भव इस कारण कि यह सर्वत्र विद्यमान है।)

अतएव यहां इस प्रश्न (३-३) में जो कहा है कि 'आत्मन् एष प्राणो जायते' है। प्राण आत्मा से उत्पन्न नहीं होता। यह परमात्मा का लिंग है। यह कहा जा सकता है कि यहां आत्मा से परमात्मा का अभिप्राय है परन्तु साथ ही कह दिया मन के करने से शरीर में आया है।

वेद में प्राण को परमात्मा की अनादि शक्ति माना है। कहा है कि यह रचना पूर्व में भी दो पदार्थों में एक था। इसका नाम वहां 'आनीतवातम्' कहा है। दूसरी वस्तु स्वधा थी।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते।
एतान्ग्रामानेतान्ग्रामा नधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष
प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ।।४।।

अर्थ—जैसे सम्राट अपने अधीन कर्मचारियों को अपने-अपने काम में नियुक्त करता है, तथा उनको कहता है कि इस ग्राम में शासन करो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैसे ही परमात्मा प्राणों को पृथक्-पृथक् स्थान पर काम पर लगाता है।

(अभिप्राय यह है कि प्राणस्वरूप परमात्मा भिन्न-भिन्न अंगों की गतियां करने के लिए प्राण के विभाग कर उनको काम पर लगाता है।)

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां
प्राणः स्वयं प्रातिष्ठिते मध्ये तु समानः।
एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥

अर्थ—मल-मूत्र को ले जाने वाला अपान है। प्राण है जो चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका में स्वयं रहता है। बीच में समान प्राण है। इससे पचा हुआ अन्न शरीर के भिन्न-भिन्न भागों को ले जाया जाता है। इससे ले जाये गये अन्न से सात ज्योतियां जाग पड़ती हैं।

जो भाष्यकार शरीर की कार्यविधि को नहीं जानते उन्होंने इस मन्त्र के अर्थ में बहुत गड़बड़ कर दी है।

इसमें समझने की बात यह है कि प्राण शरीर में गतियां उत्पन्न करता है। यह शरीर की पाचनक्रिया और शरीर के धातुओं यथा रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा और वीर्य के बनाने में योगदान नहीं करता। वह काम इसका नहीं है। अर्थात् पाचनक्रिया में प्राण का हाथ नहीं है। यह रासायनिक कार्य इन्द्र का है।

ऊपर जो आंख, कान, नाक, मुख की बात कही है, यह उन गोलको (टिशूज़) के हिलने-डोलने की बात कही है, आंख, कान, नाक के काम करने की बात नहीं कही है। आंख का झपकना, कान में पर्दे का हिलना-डोलना तथा मुख में जिह्वा इत्यादि के हिलने-डोलने से अभिप्राय है।

अन्न को पचाना प्राण का कार्य नहीं है। यह इन्द्र का कार्य हैं। पचे अन्न को शरीर के भिन्न-भिन्न भागों तक पहुंचाने का कार्य प्राण का है। जब यह अन्न भिन्न-भिन्न स्थान पर पहुंच जाता है, तब शरीर में सात ज्योतियां जाग पड़ती हैं। यह ज्योतियां हैं पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन तथा सातवीं बुद्धि। यह प्राण समान हैं।

शरीर क्रिया विज्ञान से अनभिज्ञ, केवल भाषा का ज्ञान रखने वाले भाष्यकार गलत अर्थ कर गये हैं।

उपनिषद्कार ने इस मन्त्र में एक बात यह भी लिख दी है कि प्राण चक्षु, श्रोत्र, नासिका और मुख में स्वयं उपस्थित है। किन्तु क्या अन्य स्थान पर वह स्वयं उपस्थित नहीं है? ऊपर के मन्त्र में कहा गया है कि प्राण ने अपने विभाग किये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह नहीं कहा है कि अन्य सेवक दूसरे स्थान पर भेजे।

वस्तुस्थिति यह है कि जहां तक शरीर की गतियों का सम्बन्ध है, प्राण स्वयं ही कार्य करता है। मल-मूत्र के स्थान पर भी और आंख, कान, नाक आदि स्थान पर भी। गतियां प्राण से होती हैं। शरीर की सब गतियां प्राण स्वयं करता है।

हृदि ह्येष आत्मा।
अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं
शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः
प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

अर्थ—आत्मा हृदय में रहता है। यहां से एक सौ नाड़ियां निकलती हैं। उन एक-एक नाड़ियों में से फिर सैकड़ों और फिर उनमें से नाड़ियों की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखायें निकलती हैं। इनमें व्यान-प्राण कार्य करता है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

अर्थ—एक ऊपर को जाने वाला उदान कहाता है। यह पुण्य कर्म से पुण्य लोक को जाता है। पाप कर्म से आत्मा को पाप लोक में ले जाता है। दोनों प्रकार के कर्म करने से मनुष्य लोक में ले जाता है।

यदि दोनों मन्त्रों के अर्थों को साथ-साथ पढ़ा जाय तो विदित होगा कि उपनिषद्कार के मस्तिष्क में विभ्रम है।

मन्त्र संख्या ३-६ में कहा गया है कि आत्मा हृदय स्थान पर रहता है और यहां से सहस्रों-लाखों नाड़ियां निकलती हैं जिनमें व्यान वायु प्रवाह करती है।

नाड़ियां नालीदार अंग को कहते हैं। शरीर में ये नाड़ियां हृदय जिसे दिल अथवा हार्ट कहते हैं, से निकलती हैं। परन्तु आत्मा, जीवात्मा अथवा परमात्मा क्या दिल में रहता है?

जीवात्मा तो यहां नहीं रहता है। परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वत्र है। अतः यहां पर जीवात्मा से ही अभिप्राय है। जीवात्मा वहां होना चाहिये जो चेतना का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केन्द्र है। हृदय चेतना का केन्द्र नहीं है। चेतना का केन्द्र तो मस्तिष्क है। मस्तिष्क में माथे के पीछे, भौहों के मध्य में एक गुहा स्थान माना जाता है, जहां जीवात्मा, मन और बुद्धि का निवास कहा जाता है। यह स्थान नालीदार अंगों का केन्द्र नहीं है।

उपनिषद्कार ने 'इस स्थान पर आत्मा रहता है' लिखकर भूल की है। हृदय में जीवात्मा का स्थान नहीं है।

इस कारण हमारा कथन है कि एक तो नाड़ी शब्द यदि ठीक है तो यह हृदय स्थान से निकलती है और वहां जीवात्मा नहीं रहता।

दूसरे, कदाचित् इसका नाम व्यान रक्त को बहाने वाली माना है। मन्त्र ३-७ में लिखा है कि उदान वायु के अधीन है। हम समझते हैं कि ये नाड़ियां नहीं शिरायें हैं, जो पूर्ण शरीर से मस्तिष्क को जाती हैं। उनमें ही कर्म करने की सामर्थ्य है जिनसे पाप-पुण्य होते हैं।

व्यान रक्तवाहिनी नाड़ियां में चलता है और उदान शिराओं में चलता है। पाप-पुण्य करने वाला जीवात्मा है। इससे यह जीवात्मा शिराओं के केन्द्र स्थान पर रहता है। तब ही इसको पाप-पुण्य का फल मिलता है।

उपनिषद्कार ने भूल यह की है कि जहां नाड़ियां जाती हैं, उस स्थान को आत्मा का स्थान कहा है।

हृदय जीवात्मा के निवास स्थान को कहते हैं। परन्तु अध्यात्म में हृदय का अर्थ मस्तिष्क से है, दिल से नहीं।

अतः हमारा मत है कि व्यान रक्तवाहिनी नाड़ियों में चलता है और उदान शिराओ में काम करता है।

जीवात्मा उदान के केन्द्र स्थान पर रहता है। वहीं मन और बुद्धि भी होते हैं।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदत्येष
ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः।
पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा
यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८॥

अर्थ—निश्चय ही सूर्य बाह्य प्राण है। वह चक्षु पर उदय होता है अर्थात् चक्षु की सहायता करता है। पृथिवी में जो दिव्य शक्ति है वह शरीर में अपान है। इन दोनों के भीतर जो शक्ति है वह आकाश में स्थित समान है। वायु व्यान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य ही बाहरी प्राण है। इसका अभिप्राय यह है कि सूर्य द्वारा शरीर में प्राणशक्ति आती है। सूर्य से शक्ति, प्रकाश और ऊष्मा के द्वारा पृथिवी पर, वनस्पतियों में आती है और वनस्पतियों के खाने से प्राण शक्ति शरीर में आती है। यह शक्ति सात प्रकार की हो जाती है। एक प्रकार की कर्मेन्द्रियों में, दूसरी प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों में, यह दूसरी शक्ति पुनः पांच प्रकार में बंटी हुई है। चक्षु, कर्ण, प्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रियों में कार्य करती है। सातवीं प्रकार की शक्ति श्रेष्ठ प्राण कहाती है। यह भी पुनः पांच प्रकार की है।

यहां इस श्रेष्ठ प्राण के विभागों का ही वर्णन हो रहा है। प्राण फेफड़ों को गतिशील करते हैं। अपान आंतों और मूत्र नलिका में कार्य करता है। व्यान रक्त-वाहिनी नाड़ियों में कार्य करता है। उदान शिराओं में गति उत्पन्न करता है। समान शरीर में रस, मल-मूत्र के अतिरिक्त द्रव्यों को गति देता है।

उपनिषद्कार से हमारा मतभेद केवल इस बात पर है कि आत्मा हृदय में नहीं रहता अपितु वह मस्तिष्क में रहता है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥९॥

अर्थ—निश्चय से तेज उदान है। इस कारण तेज के शान्त होने पर इन्द्रियों के मन में संयुक्त हो जाने पर पुनर्जन्म की घटना होती है।

उदान वायु को यहां तेज कहा है। तेज का अभिप्राय परमात्मा की उस अमर शक्ति से है जो सृष्टि रचना करती है। वैसे तो प्राण शक्ति, जो सूर्य से पृथिवी पर प्राप्त होती है, वह भी परमात्मा की ही शक्ति है। परन्तु उदान के अतिरिक्त कार्य करने से वह गौण शक्ति कहाती है।

प्राण, जिससे शरीर के अंग हिलते-डोलते हैं, वे जीवात्मा के अधीन हो जाते हैं। हमने ब्रह्मसूत्र का प्रमाण प्रस्तुत कर सिद्ध किया है कि प्राण की शक्ति परमात्मा से इतर अर्थात् जीवात्मा को (उधार) मिली होती है और वह उसके अधीन कार्य करती है। परन्तु यह उदान तो परमात्मा का तेज है और परमात्मा से ही नियन्त्रित होता है। इसका भास इस बात से होता है कि शरीर में उदान का कार्य मनुष्य की इच्छा से बाहर होता है। मनुष्य चाहे अथवा न चाहे, उदान कार्य करता है अथवा कार्य छोड़ देता है। इससे यह माना जाता है कि शरीर की गुहा में बैठा परमात्मा इसको नियन्त्रित करता है। जब ईश्वर को किसी मनुष्य का जीवनान्त करना होता है तो वह इस उदान नामक तेज को शरीर से बाहर निकाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है। शरीर शान्त हो जाता है और जीवात्मा पुनः जन्म लेने के लिये चला जाता है।

जब जीवात्मा के एक शरीर में कर्मफलों का भोग समाप्त हो जाता है तो उदान शरीर से बाहर निकल जाया करता है, यही वस्तुस्थिति है। तब जीवात्मा नये शरीर के लिये चला जाता है।

उदान श्रेष्ठ प्राण का एक भाग ही है। यह उसका सर्वश्रेष्ठ भाग है। वैसे तो अपान भी मनुष्य के अधीन नहीं है। अपान का अर्थ हमने बताया है कि वह प्राण जिसके द्वारा खाना गले से चलकर गुदा द्वार तक विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा चलता है अथवा मूत्र, वृक्क से चलकर मूत्रकोष तक भी मनुष्य की इच्छा के बिना चलता रहता है। इस प्राण को भी हमने अपान ही कहा है। रक्त का संचालन व्यान से होता है। ये सब श्रेष्ठ प्राण हैं। इनमें मुख्य उदान है और उदान के शान्त होने से प्राणान्त हो जाता है। उदान उस प्राण को कहते हैं जो शिराओं के द्वारा शिर अर्थात् मस्तिष्क की ओर जाता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

अर्थ—जैसा जिसका चित्त होता है, प्राण उसको उधर ही ले जाता है। यह वह प्राण है जो तेज से युक्त होता है। यह आत्मा को साथ लेकर जैसा संकल्प होता है, उसी लोक में ले जाता है।

यह मन्त्र भी स्पष्ट नहीं है। इसमें कहा गया है कि जैसा संकल्प होता है, उधर ही प्राण उस जीवात्मा को ले जाता है। संकल्प मन बनाता है और मन प्राण के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर में नहीं जाता। जबकि जीवात्मा जाता है। जीवात्मा के संकल्प नहीं होते। वह तो संस्कारों से प्रेरित होता है। इससे हम समझते हैं कि यहां पर उपनिषद्कार का संकल्प से अर्थ संस्कार ही है।

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा
हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥११॥

अर्थ—जो विद्वान् प्राण को इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तान नष्ट नहीं होती। वह अमर हो जाती है। उसी विषय में यह श्लोक है।

ऊपर ३-१० में कहा गया है कि जीवात्मा को प्राण उसके संकल्पों के अनुसार ले जाता है और विवेच्य श्लोक में कहा है कि प्राण को इस प्रकार जानने वाले की प्रजा नष्ट नहीं होती।

यह प्रश्न विचारणीय है। ज्ञानवान् के अपने ज्ञान का प्रभाव बिना उसके यत्न के, सन्तान पर, विशेष रूप में उसकी सन्तान के स्वयं ज्ञानवान् हुए बिना किस प्रकार युक्त हो जायेगा? इसके प्रमाण संसार में नहीं मिलते। तदपि इस विषय में हम अपना कोई मत व्यक्त नहीं कर रहे। विशेषावस्था में कदाचित् प्रभाव हो भी सकता है। किन्तु यह स्थायी है, इसमें सन्देह है।

अगला श्लोक इस प्रकार है :

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुतइति ॥१२॥

अर्थ—प्राण की उत्पत्ति इसके शरीर में आने की विधि और इसका स्थान तथा आध्यात्मिक भेद से इसके पांच प्रकार की स्थिति को जो जान लेता है, वह अमृत का पान करता है, अमृत का पान करता है।

उत्पत्ति का अभिप्राय है आविर्भाव अर्थात् प्रकट होना। वेद मन्त्र में इसकी उत्पत्ति का स्थान बताया है।

ऋ० १-१६३-१ में हम बता चुके हैं यह उत्पन्न नहीं होता। केवल प्रकट होता है। ईश्वरेच्छा से अन्तरिक्ष में प्रकट हो शीघ्रता से फैल जाता है।

यह शरीर में कैसे जाता है, इस विषय में इसी उपनिषद् के २-७ में कहा है कि उत्पन्न होने वाले गर्भ में दूसरे प्राणी (माता) के प्राण द्वारा बच्चे के शरीर में आता है।

प्राण ही प्रजापति है। अर्थात भ्रूण का पालन करने वाला है। वह ही पीछे आता है। अर्थात् वह प्राण जो पहले आता है उसके बल से ही बच्चा बनता है और प्राण की भेंट ही प्रजायें उसके लिये लाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मां के रक्त से ही बच्चे के प्राण आते हैं।

मां के रक्त में यह प्राण कहां से आता है? यह सूर्य की रश्मियों से वनस्पति में आता है और वनस्पतियां खाने से प्राणी के शरीर में प्राण आता है। मां के रक्त में भी वह वहीं से आता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके स्थान के विषय में भी उपनिषद्कार ने यह बताया है कि यह प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान के रूप में पांच प्रकार से कार्य करता है। यह सब उपनिषद् में वर्णन किया जा चुका है। यह स्थान और विधि पांच प्रकार की है।

ये पांच स्थान प्राण के शरीर में हैं परन्तु प्राणी के मन में व्याप्त नहीं। इसके ब्रह्माण्ड में भी पांच स्थान हैं। वे हैं पांच तन्मात्रा। इन तन्मात्राओं से ही बंधा हुआ यह पूर्ण जगत् कार्य करता है।

इसके अध्यात्म के यही पांच रूप हैं। अन्य किसी भी उपनिषद्कार ने इनका वर्णन नहीं किया। प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये रूप अध्यात्म में किस प्रकार कहे जाते हैं? हमारा विचार है कि क्योंकि ये प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान परमात्मा की ही शक्ति के स्वरूप हैं, इस कारण इनको अध्यात्म के रूप कहा है।

यहां हम अपने मन की एक बात का वर्णन कर दें तो ठीक रहेगा। ज्ञान और ज्ञानानुसार कार्य करना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। प्रायः शास्त्रों में ज्ञान उपलब्ध करने को ही ज्ञानानुसार कार्य करना माना है। ज्ञान से अमृत स्थिति प्राप्ति की बात लिखी है। हम इसको इस प्रकार नहीं मानते। ज्ञान एक आवश्यक वस्तु होते हुए भी जब तक उसके अनुसार आचरण न किया जाये तब तक फल कुछ भी नहीं होता। फल कर्म का होता है। कर्महीन होने का कुछ भी फल नहीं। भले ही कर्म-हीन व्यक्ति परमब्रह्म के विषय में सब कुछ जानता हो।

इसी कारण कहा है कि जीवन में कर्महीन तो रहा नहीं जा सकता। ज्ञानी और अज्ञानी बिना कर्म के नहीं रह सकते। निष्काम भाव से कर्म करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सोर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ।
भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति
कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति
कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

अर्थ—अब उनसे अर्थात् पिप्लाद मुनि से, सूर्य-पौत्र गार्ग्य ने पूछा, "भगवन्! इस पुरुष में कौन सोता है और कौन जागता है? कौन स्वप्नों को देखता है? किसे यह सुख अनुभव होता है तथा किसमें यह सब प्रतिष्ठित है?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

अर्थ—उसको (गार्ग्य को) उसने (पिप्लाद ने) कहा, "हे गार्ग्य! जैसे अस्त होने पर सूर्य की सब किरणें उस तेज के पुंज में सिमटकर एक हो जाती हैं और फिर सूर्योदय होने पर वे फैल जाती हैं, इसी प्रकार जब वह पुनः उदय होता है तो तब वे किरणें फिर चल पड़ती हैं। इसी प्रकार वे सब इन्द्रियां परमदेव मन में एक हो जाया करती हैं। तब उस समय न तो पुरुष सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न रस लेता है, न स्पर्श का अनुभव करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मल-मूत्र का त्याग करता है, न चलता-फिरता है। ऐसे पुरुष को उस समय 'सोया हुआ' ऐसा कहते हैं।

यहां सोये हुए मनुष्य की ठीक स्थिति का वर्णन किया गया है। क्योंकि वह मन ही है जो जागता अथवा सोता है। मन जब अपनी शक्ति को समेट लेता है तो इन्द्रियां कार्य करना छोड़ देती हैं। इन्द्रियों का सम्बन्ध मन से है। मन ही इन्द्रियों के अनुभवों को जीवात्मा तक पहुंचाता है। जब मन सोता है तो इन्द्रियां भी सो जाया करती हैं। तब शरीर सो गया माना जाता है। यहां पर मन की उपमा सूर्य से दी गयी है।

परन्तु जो उपमा इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए दी गयी है, हमारी दृष्टि में वह न केवल अशुद्ध है अपितु प्राचीन भारतीयों को संसार के ज्ञान से शून्य भी सिद्ध करने वाली है। सूर्य अस्त नहीं होता और न ही इसकी किरणें सिमटकर कभी उस तेजः पुंज में विलीन हो जायेंगी जो उदय होने के समय पुनः फैलने लग जायेंगी।

यहां पर मुनि की मति भ्रमित हो गयी प्रतीत होती है। रात के समय भी सूर्य की किरणें तो विस्तीर्ण होती रहती ही हैं क्योंकि हमारी पृथिवी ने अपनी दिशा बदली होती है उसके परिणामस्वरूप हम उन किरणों को अपने तक आती हुई नहीं देख सकते। सूर्य की किरणें तो केवल उसी समय सिमटेंगी, जिस समय प्रलय हो जायेगी। कदाचित् पृथिवी के जीवजन्तु पहले समाप्त होंगे तब उसके बाद प्रलय होगी। सूर्य के अस्त होने की उपमा कितनी गलत है यह साधारण प्रारम्भिक कक्षा का विद्यार्थी भी समझ सकता है, अतः ऐसी उपमा देना उपयुक्त नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदपि मन्त्र का भाव ठीक है। यह मन सोता है। प्राणी नहीं सोता। मन के सोने से वे प्राण भी जिनका सम्बन्ध मन के द्वारा जीवात्मा के साथ होता है, सो जाया करते हैं। परन्तु श्रेष्ठ प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि मनुष्य के सोये रहने पर भी कार्यरत रहते हैं। क्योंकि उनका सम्बन्ध मन के द्वारा जीवात्मा से नहीं है। उनका सम्बन्ध सीधे आत्मा से है। कहा जाता है कि ये पांच श्रेष्ठ प्राण परमात्मा द्वारा संचालित होते हैं। परमात्मा उस समय उनको कार्य से रोकता है जब जीव कर्मफल का भोग कर अगले जन्म में अथवा मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए शरीर का त्याग करता है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति।
गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो
यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते
प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

अर्थ—अग्निरूप प्राण ही इस शरीर में जाग्रत रहते हैं। वह गार्हपत्य ही है जो अपान है। अन्वाहार्य पचनीय अग्नि व्यान है। आहवनीय अग्नि प्राण ही है।

शरीर में प्राण जो ऊपर के मन्त्रों में वर्णन किये गये हैं, उनकी तुलना व्यवहार में आने वाली अग्नियों से की गयी है। यहां कहा गया है कि गार्हपत्य अग्नि है जो घर के कार्यों के लिये जलाई जाती है। उपनिषद्कार ने इसकी तुलना अपान प्राण से की है। दूसरी है अन्वाहार्य पाचन अग्नि। यह वह अग्नि है जो कहीं से लायी जाती है और इसकी क्रिया पाचन है। अर्थात् सूर्य की अग्नि जो पाचन क्रिया में सहायक होती है, आमाशय में तेजाब बनाती है, मुख में लार बनाती है, यकृत में पित्त बनाती है और ये सब शरीर में पाचन का कार्य करते हैं। क्योंकि सूर्य से ये वनस्पतियों के द्वारा शरीर में कार्य करती हैं इस कारण इसकी उपमा अपान से की गयी है। यह आहवनीय अग्नि है जो अग्नि होत्र में अथवा यज्ञरूप लोककल्याण के कार्यों में जलाई जाती है। उसकी उपमा प्राणरूप से दी गई है।

ऊपर बताया गया है कि प्राण वह अग्नि है जिससे आंख, नाक, कान, मुख कार्य करते हैं। हमारा विचार है कि उपनिषद् में प्राण उस अग्नि को कहा गया है जिससे इन्द्रियों के गोलक और शरीर के अंग हिलते डोलते हैं।

वर्तमान उपनिषद्कार अर्थात् पिप्लाद मुनि जो उपमा दे रहे हैं वह इस विषय में ठीक नहीं बैठती। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि मुनि जी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तो किया हुआ था, किन्तु अपनी बात को समझाने के लिये जब वे तुलनात्मक वर्णन करने लगे, तो वहां पर उनकी उपमायें ठीक नहीं बैठीं।

जैसे अपान वह वायु अर्थात् प्राण है जो शरीर में भोजन का संचालन करती है। इस की तुलना गार्हपत्य अग्नि से की गई है। यह केवल इसी दृष्टि से ठीक है कि अग्नि से भोजन बनता है और वह भोजन शरीर को पुष्ट करता है। परन्तु गार्हपत्य अग्नि जो भोजन को पकाया करती है, वह उसे प्राणियों में वितरण नहीं करती। और अपान भोजन को पचाती नहीं है अपितु वह भोजन का संचालन करती है। पचा हुआ भोजन रक्त द्वारा शरीर के अंग-अंग में पहुंचता है। उपनिषद्-कार ने चूल्हे पर भोजन को पकाने को अन्य प्राणियों तक पहुंचाना भी मान लिया है। अपान वायु भोजन को गले से गुदा तक ले जाती है किन्तु उसका कार्य पचाना नहीं है। पचा हुआ भोजन रक्त में जाता है और रक्त उसे लेकर शरीर के सब भागों में पहुंचा देता है।

'अन्वाहार्यपचन-अग्नि' (अनु, आहार, पाचन, अग्नि) अर्थात् खाये हुए अन्न को पचाने वाली अग्नि। यह मुख की लार में, आमाशय के अम्ल-पित्त में और यकृत के पीत पित्त में स्थित इन अंगों में होती है। यह अग्नि द्रवित होने वाले रसों में होती है। इन्हीं से शरीर में रस बनता है। यह रस रक्त द्वारा शरीर में जाता है। इस प्रकार जब वह फेफड़ों में पहुंचता है तो हवा की आक्सीजन से पवित्र हो शरीर के अंग बनाने के योग्य हो जाता है। फिर शरीर के शेष धातु बनते हैं। उससे रक्त, मांस, मेद, मज्जा और वीर्य बनते हैं। उनको बनाने वाली अग्नि तो वर्तमान विज्ञान में रासायनिक अग्नि कहलाती है। यह अग्नि भी उदान, व्यानादि नहीं है। उदान तो पचे हुए द्रव्य को शरीर के विभिन्न अंगों में ले जाता है। व्यान वायु शिराओं में चेतना का संचार करता है। अन्वाहार्य पचनीय अग्नि व्यान नहीं है। वह उन पांचों में नहीं है जो श्रेष्ठ प्राण के विभाग हैं। यह रासायनिक अग्नि है जो इन्द्र का एक रूप है। यह पञ्चतन्मात्राओं में से एक तन्मात्रा है।

इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि उपनिषद् लिखने वालों के प्रति श्रद्धा के भाव से भले ही उनके द्वारा दी गई अशुद्ध उपमाओं की हम भाष्यों में पुनरावृत्ति कर दें किन्तु इससे मानव ज्ञान में वृद्धि नहीं हो पायेगी। बुद्धि और ज्ञान के विपरीत कार्य करने वाली श्रद्धा घोर अन्धकार में डाल देती है।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमान-महरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—यह जो श्वास बाहर-भीतर किया जाता है, यह अग्निहोत्र में आहुतियों के समान है। यह देह को सम अर्थात् समान तापक्रम (९८·४) पर कर देता है। इस प्रक्रिया में मन यजमान है। इष्टफल उदान है। यह श्वास प्रक्रिया यजमान को ब्रह्म तक ले जाता है।

जहां तक श्वास प्रक्रिया की बात है वह ठीक लिखा गया है। परन्तु उसके आगे जो कुछ लिखा गया है, वह यथार्थ से परे है।

कदाचित् उपनिषद्कार का संकेत प्राणायाम और समाधि की ओर हो। एक भाष्यकार ने इस भाग का अर्थ इस प्रकार किया है :—

'जिस प्रकार यज्ञ में 'यजमान' यज्ञ करता है, इसी प्रकार शरीर में मन यजमान है। जिस प्रकार यज्ञ का इष्ट फल होता है, यह इष्ट फल ही शरीर में मानो उदान है। उदान ही तो आत्मा को पुण्यलोक, पापलोक या मनुष्य लोक में ले जाता है। यही इष्ट है। यह उदान मन रूपी यजमान को दिन-दिन ब्रह्म की ओर ले जाता है।

(प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

इस भाष्य में भी यही अशुद्धि है कि सांस लेने, छोड़ने वाले यजमान को मन कहा है। अर्थात् जैसे यजमान आहुतियां छोड़ता है उसी प्रकार मन सांस लेता है। यही अशुद्ध है। सांस लेने और छोड़ने वाला मन नहीं अपितु जीवात्मा है।

यहां कहा है कि सांस लेने से जो अग्नि उत्पन्न होती है, वह मन को ब्रह्म की ओर ले जाती है। अर्थात् मुक्ति मन पाता है। जीवात्मा नहीं। यह उपनिषद्कार के अपने ही कथन के विपरीत है। उपनिषद्कार ने मन्त्र ३-१० में कहा है कि जैसा संकल्प होता है उसी ओर प्राण आत्मा को ले जाता है।

इस परिपेक्ष में वह आत्मा यहां मन किस प्रकार हो गया ? मन आत्मा से पृथक् है। यह सोता है, जागता है, स्वप्न लेता है परन्तु शरीर का संचालन जीवात्मा करता है। यह संचालन कार्य वह प्राण अर्थात् परमात्मा द्वारा दी गई शक्ति द्वारा करता है।

इस प्रकार उस मन्त्र के अन्तिम भाग का समन्वय उसके प्रथम भाग से नहीं होता।

इससे पाठकों में भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वे मन को ही आत्मा समझने लगते हैं। मन प्रकृति का परिणाम है। जीवात्मा प्रकृति से पृथक् पुरुष है। यह चेतन तत्व है।

अत्रैष देवः स्वप्ने महामानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—इस स्वप्नावस्था में यह देव मन अपनी महिमा कर्मों को अनुभव करता है। जो मन अपनी जाग्रत अवस्था में देखा हुआ, सुना हुआ है, देश-देशान्तर में अनुभव किया होता है, वही बार-बार इसके समक्ष आता है। देखे हुए, न देखे हुए, सुने हुए, न सुने हुए, अनुभव किये हुए, न अनुभव किये हुए, सत्य-झूठ सब देखता है।

(यहां यह न देखा हुआ, न सुना हुआ और न अनुभव किया हुआ, का अभिप्राय यह है कि देखे, सुने और अनुभव किये के अतिरिक्त जो कल्पना करता है, वह सब स्वप्नों में देखता है।)

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्नः पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—जब मन तेज से अभिभूत हो जाता है तो यह स्वप्न नहीं देखता। और तब इस शरीर में यह सुखी अनुभव करता है।

यहां कहा है कि मन तेज से अभिभूत होता है। 'तेज' शब्द सन्देहपरक है। भाष्यकारों ने इसके अर्थ अपने मन से भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं। एक भाष्यकार इसको सतोगुण की अवस्था कहता है तो दूसरा इसको आत्मसत्ता कहता है। वह कहता है कि जब मन आत्मसत्ता से दब जाता है। स्वामी शंकराचार्य ने इसका अर्थ किया है—"वह आदिभूत अर्थात् जिसकी वासनाओं की अभिव्यक्ति का द्वार लुप्त हो जाता है उसका ऐसे समय में इन्द्रियों सहित मन की किरणों का हृदय में उपसंहार हो जाता है···।"

इन अर्थों को हम केवल शाब्दिक-प्रपंच समझते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि 'तेज' शब्द का प्रयोग ही यहां पर अशुद्ध है। तेज परमात्मा की शक्ति है। सुषुप्ति अवस्था में मन उससे प्रभावित नहीं होता।

हमारा विचार यह है कि शरीर के अन्य अंगों की भांति मन भी थक जाता है। जब वह आधा थका होता है तो अर्द्धचेतनावस्था में होने से स्वप्न देखता है। उस अर्द्धचेतनावस्था में जो कुछ वह देखता है, सुनता अथवा अनुभव करता है वह कुछ तो उसके पहले देखे-सुने अनुभव किये से सम्बन्ध रखता है। इसके साथ ही नींद में उसकी शारीरिक अवस्था—सीधा, टेढ़ा अथवा छाती पर हाथ आने अथवा पांव इत्यादि पर किसी वस्तु का बोझा इत्यादि पड़ने से देखे-सुने अनुभव में विकृति आती है। जब यह थककर गहरी नींद सो जाता है तो स्वप्नलोक से बाहर हो सर्वथा अचेत हो जाया करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर के अन्य अंगों की भांति इसमें भी आराम करने से पुनः कार्यशक्ति का संचार होता है और तब यह जाग पड़ता है। यह इसी प्रकार है जैसे आंख, कान, इत्यादि से अधिक समय तक काम करने पर आंखें चौंधिया कर अथवा हाथ-पांव थककर अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं और फिर बैठकर आराम करने से आंख और कान पुनः कार्य करने लगते हैं, वैसे ही मन सोने के उपरान्त सतर्क हो जाता है और काम करने लगता है। प्राणी के शरीर में शरीर की टूटफूट की मरम्मत करने का साधन भी शरीर में ही है। इस कारण आराम से सोने पर मन में पुनः जानी-सुनी बात समझ में आने लगती है।

स यथा सोम्य वयांसिवासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

अर्थ—हे सोम्य (प्रिय) ! जैसे पक्षी अपने रहने वाले वृक्ष पर (रात के समय) आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वह मन स्वप्न देखने के उपरान्त आत्मा में आकर शान्त (प्रतिष्ठित) हो जाता है।

'पर आत्मनि' का अर्थ परमात्मा है। यह वाक्य का अशुद्ध प्रयोग है।

यहां आत्मा का अभिप्राय अपने शरीर से है, इसका अभिप्राय परमात्मा नहीं हो सकता। तदपि उपनिषद्कार ने आत्मा से पूर्व 'पर' शब्द जोड़ इसको परमात्मा सिद्ध करने का प्रयास किया है। यहां पर उसका 'पर' से अभिप्राय 'परम' है।

वैसे तो समस्त संसार जिसमें जीवात्मा, बुद्धि और शरीर भी हैं, परमात्मा के भीतर ही रहते हैं, इसी प्रकार मन भी परमात्मा में रहता है। जागता हुआ भी और सोता हुआ भी। वह केवल सुषुप्ति अवस्था में नहीं रहता।

इस कारण हमारा यह कहना है कि सोई अवस्था में मन जीवात्मा के साथ हो जाता है, अर्थात् इसका मुख इन्द्रियों की ओर से हट जाता है।

आत्मा और परमात्मा के विषय में हमारा जो मत है उसे वेद में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।

।।ऋ० १-१६४-२०।।

अर्थ—शरीररूपी वृक्ष पर दो सुन्दर गति वाले पक्षी रहते हैं। इनमें से एक वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा साक्षी के रूप में देखता है। ये दो पक्षी आत्मा और परमात्मा हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में भी लिखा है—

गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तद्दर्शनात् ।।

।।ब्र० सू० १-२-११।।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में भी इस प्रकार कहा गया है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।।

।।ऋ० १-१६४-१।।

अर्थ—इस सुन्दर वृद्ध होने वाले में इसका एक भाई भोग करने वाला होता है। वह शरीर द्वारा भोग करता है और इसका तीसरा भाई है जो इन दोनों की अपने सात पुत्रों की सहायता से रक्षा और पालन करता है।

यह है वेद मत। इसके अतिरिक्त युक्ति भी है। शरीर में दो प्रकार के प्राण होते हैं। एक तो वे जो प्राणी की इच्छा से कार्य करते हैं और दूसरे वे जो इच्छा के अतिरिक्त कार्य करते हैं। अतिरिक्त कार्य करने वाले प्राण में रक्त-संचालन यन्त्र, सांस लेने और छोड़ने वाला यन्त्र तथा मल-मूत्र का शरीर में संचालन करने वाला यन्त्र है। इनको श्रेष्ठ प्राण कहते हैं और उदान, अपान, व्यान और समान वायु के नाम से अभिहित हैं। ये प्राण परमात्मा के अधीन कार्य करते हैं। इन्हीं के विषय में कहा है कि जब जीवन का अन्त आता है तो परमात्मा इन श्रेष्ठ प्राणों को विशेष रूप में उदान प्राण को शरीर में से निकाल लेता है और उस प्राण के शरीर छोड़ जाने से शरीर का अन्त हो जाता है।

उपनिषद् के श्लोक ४-८ में उदान कहा है। जब श्रेष्ठ प्राण शरीर छोड़ जाता है तो फिर जीवात्मा शरीर छोड़ जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार बहुश्रुत नहीं है। यही कारण है कि वह अनुपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है और उसकी भाषा भी स्पष्ट नहीं है। ऊपर के मन्त्र में 'तेज' शब्द का प्रयोग भी अनुपयुक्त था और आत्मा शब्द का विशेषण 'पर' भी अशुद्ध लगा दिया है। उपनिषद् में आत्मा का परमात्मा में भ्रम हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा मत है कि इस मन्त्र में आत्मा से अभिप्राय है शरीर। 'पर' विशेषण उचित नहीं।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोधव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

अर्थ—पृथिवी और पृथिवी की मात्रा, जल और जल की मात्रा, तेज और तेज की मात्रा, वायु और वायु की मात्रा, आकाश और आकाश की मात्रा ये सब सुषुप्ति अवस्था में शान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार चक्षु और दिखाई देने वाले पदार्थ कहने और सुने जाने वाले शब्द, नाक और सूंघने योग्य द्रव्य, जिह्वा और चखने योग्य पदार्थ, त्वचा और छूने से जानने योग्य वस्तुयें, वाणी और कहने योग्य कथन, हाथ और ग्रहण योग्य पदार्थ, पैर और जाने योग्य पदार्थ, मन और मनन करने योग्य विषय, बुद्धि और समझने योग्य विषय, अहंकार और अहंकार का भाव, चित्त और चिन्तन तेज, प्रकाश और वस्तुओं का प्रकाशित होना, प्राण और प्राण में धारण करने योग्य शरीर, ये सब सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में शान्त होकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

सोयी अवस्था में मनुष्य को शरीर की सब क्रियायें विदित नहीं होतीं। जागृत अवस्था में मनुष्य को क्या दिखाई देता है, यही उपनिषद्कार ने यहां पर बताने का यत्न किया है। पंचभूत अथवा पांच ज्ञानेन्द्रियों से जाने जाने वाले पदार्थ सोये मन के लिए नहीं रह जाते। इसके अतिरिक्त उपनिषद्कार ने मन के मनन कार्य और बुद्धि के विचार कार्य के भी शान्त हो जाने की बात लिखी है। इन सबके लिखे जाने के उपरान्त उपनिषद्कार ने चित्त और अहंकार की बात भी लिखी है।

यह सब व्याख्या करने का क्या प्रयोजन हो सकता है? इसपर विचार करने पर विदित होता है कि यह सूची आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई है।

परन्तु एक बात तो यहां कही ही जा सकती है। वह बात है 'मात्रा' शब्द के विषय में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मात्रा' सांख्य दर्शन का शब्द है। इसके शाब्दिक अर्थ हैं 'मान' जिसे अंग्रेजी में 'मेज़र' कहते हैं। परन्तु सांख्य में इसको प्रकृति के पांच परिणामों में गिनाया है। वहां इन्द्रियों से इसके सम्बन्ध का वर्णन नहीं किया गया है। अपितु सांख्य के व्याख्याकारों ने तो इस 'मात्रा' शब्द पर बहुत बड़ी-बड़ी व्याख्यायें की हैं।

सांख्यदर्शन में प्रकृति के परिणामों की गणना करते हुए कहा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकरात्पंच-तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः।।

सां० द० १-६१।।

अर्थ—सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति से महान् बनता है, महान् से तन्मात्रायें बनती हैं और उनसे इन्द्रियां···।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सांख्य में तन्मात्रा का मात्रा शब्द कोष के अर्थ नापना (मेज़र) के अर्थों में नहीं आया है।

सांख्य में तन्मात्रा पदार्थ है जो प्रकृति के परिणाम हैं।

अतः शब्दकोष के मात्रा के अर्थ सांख्य में नहीं हैं। परन्तु उपनिषद्कार ने मात्रा के अर्थ शब्दकोष के लिए हैं अथवा सांख्य के ? स्पष्ट नहीं किया।

उपनिषद् को ध्यान से पढ़ने पर विदित होगा कि उपनिषद्कार सांख्य के 'मात्रा' अर्थों में प्रयोग नहीं कर रहा है। उपनिषद्कार पंचमहाभूतों और ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों की शक्ति का अर्थ ले रहा है। और उसने कहा है कि ये शक्तियां, जब प्राणी सोता है तो शान्त हो जाती हैं। अभिप्राय यह है कि ये काम नहीं करतीं।

क्यों काम नहीं करतीं ? उसने कहा है कि यह आत्मा में लीन हो जाती हैं। किस आत्मा में लीन हो जाती हैं ? यदि कहें कि परमात्मा में लीन हो जाती हैं तो इसका प्राणी के सोने से क्या सम्बन्ध है ? साथ ही पांच महाभूतों से शरीर बना है। क्या मनुष्य के सोने पर पांव इत्यादि में पृथिवी इत्यादि की शक्ति जीवात्मा अथवा परमात्मा में चली जाती है ?

यह सब अर्थहीन ही प्रतीत होता है। वस्तुस्थिति यह है कि प्राणी के सोने के समय मन सो जाता है। शरीर की इन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां दोनों ही मन के द्वारा कार्य करती हैं। अतः सुषुप्ति अवस्था में वे काम नहीं कर सकतीं।

उदाहरण के रूप में चक्षु की बात पर विचार किया जाये। एक प्राण तो चक्षु के गोलक में काम करता है। सोये मनुष्य के चक्षु खुलते अथवा बन्द नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे मन के द्वारा ही कार्य करते हैं। इसी प्रकार देखने की शक्ति भी कार्य नहीं करती। कारण यह कि मन जो चक्षु से देखे का ज्ञान जीवात्मा को कराता है, वह सो जाने के कारण देखे हुए को जीवात्मा तक पहुंचा नहीं सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह अर्थ करना कि ये शक्तियां आत्मा में विलीन हो जाती हैं, अर्थहीन ही प्रतीत होता है।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा,
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

अर्थ—यह ही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूंघने वाला, स्वाद लेने वाला, मनन करने वाला, स्थिर करने वाला, विचार करने वाला, कर्म करने वाला, और चेतन आत्मा इस शरीर वाला है। वह दूसरे अक्षर में भलीभांति प्रतिष्ठित है।

इस मन्त्र में पुनः उपनिषद्कार ने दो आत्माओं का वर्णन किया है। एक वह जो देखता, सुनता, छूता, सूंघता, रस लेता, मनन करता, विचार करता है और चेतन शरीर में स्थित है। और दूसरा कहा है कि वह आत्मा दूसरे अक्षर, आत्मा में भलीभांति प्रतिष्ठित है।

विज्ञानात्मा का अर्थ है वह आत्मा जिससे शरीर में अनुभव होता है। अर्थात् जो चेतन है (ज्ञान चेतन के अर्थ में आया है)।

पुरुष के अर्थ हैं जो पुरि अर्थात् शरीर में रहता है। सम्प्रतिष्ठते का अर्थ है, भलीभांति प्रतिष्ठित अर्थात् स्थापित है।

सोने वाला मन है और देखने-सुनने इत्यादि वाला जीवात्मा है। इसी से हमने कहा है कि जब मन सो जाता है तो ज्ञान आत्मा तक नहीं पहुंचता। आत्मा सोता नहीं।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं
शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति।
तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अर्थ—जो निश्चय से उस छाया रहित, शरीर रहित, रक्त रहित अक्षर को जान लेता है और परम अक्षर को युक्ति से सिद्ध कर लेता है, है। वह सर्वज्ञ और सब कुछ हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य भाष्यकारों ने छाया रहित, शरीर रहित इत्यादि विषयों वाले आत्मा को परम अक्षर से एक ही कर दिया है। हम इस मन्त्र में भी दो अक्षरों का वर्णन पाते हैं। पहला अक्षर है—अच्छाय या अशरीरी इत्यादि और दूसरा अक्षर है—जो पहले को जानकर सब कुछ हो जाता है।

अक्षर शब्द इस मन्त्र में दो बार आया है और क्रियायें भी दो आई हैं। एक क्रिया है 'वेदयते' और दूसरी है 'प्रतिपद्यते'। वेदयते का अर्थ है जान लेता है और प्रतिपद्यते का अर्थ है तर्क अथवा युक्ति से निश्चय कर लेता है। जीवात्मा जाना जाता है। वह शरीर में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि लक्षणों को देखकर जाना जाता है कि मेरे आत्मतत्त्व हैं। और परमात्मा को जानने के लिए युक्ति, तर्क करना पड़ता है। इस कारण इसके लिए जो क्रिया लिखी है वह है 'प्रतिपद्यते'।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! जो विज्ञानात्मा (चेतन आत्मा) सब इन्द्रियां सब प्राणों, पांचों भूतों (शरीर) सहित में भली प्रकार प्रतिष्ठित है; जब वह उस (दूसरे) अक्षर को जान लेता है तो वह जान लेने पर वह सबमें प्रविष्ट हो जाता है।

इन दो मन्त्रों को पढ़ने के उपरान्त तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो ऊपर के मन्त्रों में संदिग्ध बात कही गई है वह भाषा की शिथिलता के कारण ही है। इस प्रश्न का निष्कर्ष है —मन आधा सोता है और स्वप्न देखता है। जब वह पूर्ण सोता है तो तब सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था में मन के सो जाने के कारण बाहर जगत से सम्पर्क नहीं रह जाता। परमात्मा भी सदा जागता रहता है। वह तो सब कुछ सदा देखता है। परन्तु जीवात्मा मन के द्वारा बाहर के जगत् से सम्पर्क बनाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

अर्थ—यह प्रश्न सत्यकाम ने पूछा, "हे मुने ! जो व्यक्ति जीवन में मरणपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता रहे वह किस लोक को प्राप्त होता है ?"

इस मन्त्र में एक शब्द है 'अभिध्यायीत'। इसका अर्थ है—ध्यान लगाना। योग दर्शन में ध्यान लगाने का अर्थ कहा है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥

॥योगदर्शन ३-२॥

अर्थ—उससे वृत्ति का एक-सा बना रहना ध्यान है।

जिसमें ध्यान लगाना हो उसको ही भीतर-बाहर सब ओर देखने तथा जानने लगना ध्यान है।

कुछ भाष्यकारों ने 'ध्यायीत' का अर्थ जप करना अर्थात् 'ओं-ओं' का उच्चारण करना कहा है। हम ऐसा नहीं समझते। मुख से बोले अथवा न बोले, चित्त में 'ओं' अक्षर का चिन्तन नहीं। 'ओं' परमात्मा का नाम है। अतः परमात्मा के अव्यक्त स्वरूप का चिन्तन और उसको ही सब स्थान पर सब ओर अनुभव करना ही 'ओं' का चिन्तन है।

प्रश्न पूछा गया है कि जीवन-भर ऐसा करने वाला किस लोक को जाता है ? इसी का उत्तर अगले मन्त्र में दिया गया है।

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

अर्थ—मुनि ने प्रश्नकर्ता को उत्तर दिया। हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है यही पर और अपर ब्रह्म है। इसलिये विद्वान् इनके सहारे उनमें से किसी एक को पा लेता है।

यहां पर ब्रह्म दो प्रकार के बताये गये हैं। किन्हीं अन्य स्थानों पर तीन प्रकार के ब्रह्मों का भी उल्लेख आया है। ब्रह्म के अर्थ हैं—महान्। बहुत बड़े और सर्वोत्कृष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थ को ब्रह्म कहा जाता है। संसार में अपनी-अपनी श्रेणी में तीन प्रकार के उत्कृष्ट पदार्थ हैं। तीन प्रकार के पदार्थ हैं। जड़ एक प्रकार का पदार्थ है। उसमें सबसे उत्कृष्ट मूल प्रकृति है। दूसरी प्रकार के पदार्थ जीवधारी हैं। चेतन पदार्थों में जीवात्मा उत्कृष्ट है। इस कारण यह भी ब्रह्म कहा जाता है। परमात्मा तो एक ही है। यह अपने आप में उत्कृष्ट है। अतः किसी के कहने के अनुसार तीन ब्रह्म हैं।

उपनिषद्कार ने जब कहा कि विद्वान् ध्यान लगाने से दो में से किसी एक को पा लेता है, उसने यह नहीं बताया कि किस को पा लेता है।

बात स्पष्ट ही है। इन दो में से एक को पाने वाला इन दो से पृथक् ही है। पाने वाला है जीवात्मा। इस कारण उपनिषद्कार का अभिप्राय है कि ध्यान लगाने से जीवात्मा परम पुरुष परमात्मा अथवा प्रकृति, एक को पा जाता है। दोनों ध्यान से प्राप्त होते हैं।

योगदर्शन में भी कहा है कि समाधि दो प्रकार की होती है—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।।

।।योग० १-४०।।

इसका अभिप्राय है कि इससे परमाणु और परम महत्व पर्यन्त वश में किया जाना सम्भव है।

यही अभिप्राय उपनिषद्कार का है। ध्यान लगाने से वह दो में से एक अर्थात् प्रकृति अथवा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ।। ३ ।।

अर्थ—वह यदि एक मात्रा वाले का ध्यान करे तो वह ऋचाओं से प्रकट होकर तुरन्त इस होने वाले, इस रचित जगत् से संयुक्त हो जाता है। इस जगत् में ही जन्म लेता है, उसे मनुष्य लोक मिलता है। तब वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर महिमावान् हो जाता है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ।। ४ ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—और यदि दो मात्रा सहित ओंकार का मन से स्मरण करे तो वह यजुः द्वारा अन्तरिक्ष में ले जाया जाता है। वहां सोमलोक है। वहां सोमलोक में वह परमात्मा की विभूति से युक्त होकर पुनः इस लोक में जन्म लेता है।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभि ध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं, स एतस्माज्जीव-घनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः॥ ५॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य तीन मात्रा वाले ओं अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करता है वह तेज से अथवा सूर्य से संयुक्त होता है। जैसे सांप अपनी कैंचुली को छोड़कर बाहर हो जाता है वैसे ही वह उपासक पाप से मुक्त हो जाता है। तब वह इस जीवात्मा लोक से परे देखता है।

इन तीन श्लोकों में कुछ ऐसी बातें लिखीं हैं जिनपर विवेचना की आवश्यकता है। यहां कहा गया है कि ओं अक्षर की तीन मात्रायें हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में ओं की तीन मात्राओं से जगत् की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। वहां चतुर्थ अवस्था वह बताई है जैसे ओं की तीनों मात्रायें पृथक्-पृथक् कर देने से ओं शब्द का कुछ नहीं रह जाता, वैसा ही जगत् के विघटन का चित्र वर्णन किया है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यहां भी इसका वही अभिप्राय है? हमारी दृष्टि में यहां वह अभिप्राय नहीं है। यहां कहा है कि जो एक मात्रा वाले ओं का ध्यान करता है, वह एक मात्रा वाले ओं को प्राप्त होता है। परन्तु कोई यदि लिखकर देखने का यत्न करेगा तो उसको विदित होगा कि एक मात्रा का ओं होता ही नहीं। न ही दो मात्रा वाला ओं कहीं देखा गया है।

अतः यहां जो एक, दो अथवा तीन मात्रा वाला ओं कहा गया है उसका वह अभिप्राय नहीं जो कि माण्डूक्योपनिषद् में है।

हम इन मन्त्रों का यह अर्थ समझ पाये हैं कि इन तीन ब्रह्मों में तीन पद हैं। वे पद हैं—सत्, चित् और आनन्द। यही ब्रह्म की तीन मात्राएं हैं। मात्रा का अर्थ होता है 'माप' अर्थात् परिमाण। हमने यह भी बताया है कि ब्रह्म तीन हैं। तीनों के भिन्न-भिन्न माप अर्थात् परिमाण हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे तीन ब्रह्म हैं, प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। प्रकृति की केवल एक मात्रा है। वह है सत्। प्रकृति का अस्तित्व सदा से है। जीवात्मा की दो मात्रा हैं। जीवात्मा सत् और चित्, इस प्रकार दो मात्रा वाला है। परमात्मा तीन मात्राओं वाला है। वे मात्रा हैं—सत्, चित् और आनन्द।

अतः उपनिषद्कार का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो पुरुष केवल प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे इस रचित जगत् से संयुक्त होकर बार-बार इसमें ही जन्म लेते हैं। उपनिषद्कार वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के विषय में कह रहा है।

जो मनुष्य दो मात्रा वाले ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं अर्थात् जो मनुष्य जीवात्मा सम्बन्धी ज्ञान में रत रहता है वह सोमलोक को प्राप्त होता है। वहां कुछ काल तक रहकर पुनः पृथिवी पर जन्म लेता है।

जो मनुष्य तीन मात्रा वाले ब्रह्म की उपासना करता है, वह सूर्यलोक को प्राप्त होकर आनन्द से युक्त हो जाता है।

यहां पर हम यदि चन्द्र और सूर्यलोक के विषय में भी अपना मत लिख दें तो उत्तम होगा। हमारी दृष्टि में मनुष्य अपने भारयुक्त शरीर के कारण पृथिवी पर बन्दी हो जाता है। मरणोपरान्त भी उसके साथ एक सूक्ष्म शरीर लगा रहता है। इस शरीर के कारण मनुष्य एक प्रकार से इस पृथिवी पर बन्दी है।

प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने का अभिप्राय है पृथिवी और अधिक-से-अधिक उतने अन्तरिक्ष का आनन्द वह भोग सकता है जितना पृथिवी और चन्द्र के बीच का अन्तरिक्ष है।

जो जीवात्मा अपने जीवात्मा को बलवान् बना लेता है और तप तथा श्रद्धा का जीवन व्यतीत करता है वह अन्तरिक्ष में और दूर तक आने-जाने की स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है।

जो व्यक्ति तीनों मात्रा वाले ब्रह्म को अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों के विषय में समझ जाता है वह द्युलोक अर्थात् सूर्य-मण्डल और उससे भी परे के व्योम का ज्ञान प्राप्त कर उसमें विचर सकता है। यह तब ही हो सकता है जब प्राणी के स्थूल और सूक्ष्म, दोनों ही शरीर छूट जाते हैं।

तिस्रो मात्रा मृत्यमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

अर्थ—तीनों मात्रा पृथक्-पृथक् रहने पर मृत्यु की सूचक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों परस्पर मिली हुई हैं। वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकतीं। बाहर, भीतर और मध्य में रहती हैं। क्रियाओं में तीनों मिलकर ही कार्य करती हैं।

तीनों मात्रा से अभिप्राय है कि मात्राओं वाले। एक मात्रा वाला, दो मात्रा वाला और तीन मात्रा वाला। हमने पूर्व मन्त्र की विवेचना में बताया है कि एक मात्रा वाली है प्रकृति। दो मात्रा वाला है जीवात्मा। और तीन मात्रा वाला है परमात्मा। तीनों के संयुक्त रहने से ही इस रचित जगत् में कार्य होता है। इनका पृथक् होना प्रलय का सूचक है। इसे ही उपनिषद्कार ने मृत्यु कहा है। इन तीनों के एक स्थान पर रहने का उदाहरण एक प्राणी के शरीर में है। पूर्व मन्त्र में कहा है कि तीन मात्रा वाले अर्थात् परमात्मा में लीन होने से द्युलोक में वास मिलता है।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥ ॥७॥

अर्थ—ऋग्वेद द्वारा इस लोक को, यजुर्वेद द्वारा अन्तरिक्ष को और सामवेद द्वारा उस लोक को प्राप्त हुआ जा सकता है जिसको ज्ञानीजन जानते हैं। अर्थात् जहां ज्ञानीजन जाते हैं। परमात्मा तीन मात्रा वाले के अवलम्बन से विद्वान् उस लोक को प्राप्त होते हैं जो सूर्यलोक है।

परमात्मा को जानने का अभिप्राय है कि तीनों मात्रा का ज्ञान प्राप्त करना। परमात्मा सत्, चित् और आनन्द है। इस कारण परमात्मा को जानने वाला प्रकृति, परमात्मा और जीवात्मा तीनों को जानता समझता है।

Central Library
167941
Gurukul Kangri (Deemed to be University) Haridwar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ प्रश्न

अथ हैनं सुकेशो भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्य-राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिमवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

अर्थ—भारद्वाज कुलोत्पन्न सुकेश ने पूछा, "हे मुने ! मेरे पास कौशल राजकुमार हिरण्य नाम वाला आया था और पूछता था कि क्या मैं सोलह कला वाले पुरुष को जानता हूं ? मैंने उससे कहा कि मैं नहीं जानता। यदि जानता होता तो बता देता। असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाला मूल से ही सूख जाता है। अतः मैं मिथ्या भाषण नहीं कर सका। वह ऐसा सुनकर रथ पर सवार होकर चल दिया। इस कारण मैं पूछता हूं कि वह पुरुष कहां है ?"

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

अर्थ—तब उस मुनि ने कहा, वह पुरुष जिसमें सोलह कला प्रकट होती हैं, वह इस शरीर में ही है।

स ईक्षांचक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

अर्थ—मुनि ने विचार किया—किसके शरीर से निकल जाने पर मैं निकल जाऊंगा और किसके भीतर रहने पर मैं रहूंगा।

पिप्लाद मुनि ने उत्तर देने से पूर्व अपने मन में विचार किया कि उसका जीवन किसके रहने से बना रहता है और किसके शरीर में से चले जाने पर जीवन नहीं रहेगा ? इस विचार के फलस्वरूप ही आगे का वर्णन है। अतः इसी के विषय में वह बताने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नादवीर्यं तपोमन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ।। ४ ।।

अर्थ—उस पुरुष ने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, पृथिवी, जल, इन्द्रियां, मन और अन्न को उत्पन्न किया। अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और नाम लोकों को रचा।

उपनिषद्कार ने सोलह नाम गिनाये हैं। वह इनको परम पुरुष की कलायें कहता है। इस विषय में उपनिषद्कार से हमारा मतभेद है। ये सोलह पदार्थ जो उसने गिनाये हैं वे इस प्रकार हैं : प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रियां, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और नाम वाले लोक।

उपनिषद्कार इनको परमात्मा की कलायें मानता है। हमारे विचार में परमात्मा की कलायें, जो किसी अन्य में नहीं हैं और इस रचना जगत् की रचना में जो आधारभूत हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. अग्नि अथवा तेज जो रचना का मूल है। (ऋ० १-१६३-१)
२. वायु, गति उत्पादक शक्ति। (ऋ० १-२-१)
३. इन्द्र, जो परमाणु में से प्रकट हुआ। (ऋ० १-१६३-२)
४. वैश्वानर अग्नि, जो कार्य जगत् को चालू रख रही है। (ऋ० १-९८-२)
५. आपः, परमाणुओं के निबन्धन। रचित जगत् का मल कारण। (ऋ० १-१६३-३, ४)
६. तन्मात्रा, पांच शक्तियां जो कार्य जगत् को बांधती हैं। (सां० १-६१)
७. इन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां। (सां० १-६१)
८. सूक्ष्म भूत। परिमण्डल और मरुत।
९. स्थूल पंच महाभूत। (सां० १-६१)
१०. मन। (सां० २-२९)
११. बुद्धि। (सां० २-१३, १४)
१२. शरीर के सप्तधातु—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य।
१३. प्राण। (शरीर के संचालन की सात शक्तियां।)
१४. कर्म अर्थात् प्रयत्न।
१५. लोक (योनियां) जो असंख्य हैं।
१६. प्राणी अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि और जीवात्मा का संयोग।

हम समझते हैं परमात्मा के ये सोलह कार्यों की गणना अधिक श्रेष्ठ है। प्रायः इनमें वे ही हैं जिनकी गणना उपनिषद्कार ने की है। हमारा कथन है कि उपनिषद्-कार की गणना में क्रम नहीं है तथा उसमें कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनका सम्बन्ध हम सीधा परमात्मा से नहीं देखते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के रूप में श्रद्धा, मन की एक भावना मात्र है। यह किसी मनुष्य में नहीं भी हो सकती। इसी प्रकार आकाश, जल, पृथिवी इत्यादि पृथक्-पृथक् गिनाने की आवश्यकता नहीं। पंच महाभूत एक श्रेणी में ही आ जाते हैं। परमात्मा की सबसे अद्भुत कला प्राणी का निर्माण है। अर्थात् मन, बुद्धि इत्यादि का जीवात्मा से संयोग। हमारे विचार में परमात्मा की कला-शक्ति की यह पराकाष्ठा है।

ये कलायें हमारी अपनी कल्पना है। हमारा यह मत ईश्वर की विभूतियों के अनुशीलन से बना है।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपेः पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः॥ ५॥

अर्थ—जैसे वे नदियां बहती हुई समुद्र की ओर जा रही हैं और समुद्र तक पहुंचकर अस्त अर्थात् अस्तित्वहीन हो जाती हैं, उनका नाम-रूप भिन्न-भिन्न नहीं रहता और सब समुद्र नाम से ही जानी जाती हैं; इसी प्रकार वे सोलह कलायें उसी से उत्पन्न हुईं उसी को प्राप्त होती हैं। उनके नामरूप नष्ट हो जाते हैं। तब वह सकल कलाओं से युक्त अकल अर्थात् कलारहित हो जाता है। इसके लिए यह श्लोक है।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥ ६॥

अर्थ—जैसे रथ चक्र की नाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे ही ब्रह्म में कलायें प्रतिष्ठित हैं। उस पुरुष का जिसकी कलायें हैं, ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। तभी मृत्यु जैसी व्यथा से बचा जा सकता है।

जब नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं तो प्रत्यक्ष रूप में तो उनका अस्तित्व नहीं रहता। वे समुद्र ही कहाती हैं। इसमें भी विचारणीय बात यह है कि नदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और समुद्र में तत्व एक ही है। वह तत्व है जल। नदी के किनारों से उनका जल पृथक्-पृथक् दिखाई देता है। नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं तो किनारे नहीं रहते और नदियां पृथक् नहीं रहतीं। जल जल में मिल जाता है। इसी प्रकार संसार के सब पदार्थ जिससे बने हैं उसी में जा मिलते हैं।

जल पहले और बाद में भी एक ही था। अन्तर किनारे टूटने का हुआ। नदियों के किनारे टूटना और जल का जल में मिलना एक ही बात नहीं है। अतः उपनिषद्कार से हमारा इस बात पर मतभेद है। जल तो पहले भी एक ही था। अन्तर केवल नदियों के किनारे टूट जाने से आया है। और नदियों के किनारे जल नहीं हैं। यदि वे भी जल ही होते तो नदियों में पृथकत्व होता ही नहीं।

इस कारण यह उदाहरण अशुद्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि कलायें हैं तो परमात्मा की शक्ति के कारण ही। अर्थात् कला में बल तो परमात्मा की शक्ति का ही है, परन्तु उनका पृथक्-पृथक् दिखाई देना उनमें शक्ति के कारण नहीं वरन् प्रकृति के उस अंश के कारण है जिनमें परमात्मा की शक्ति कार्य कर रही है।

वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा की अनादि शक्ति अग्नि तो एक ही है और वे कलायें पृथक्-पृथक् प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों के कारण हैं।

उदाहरणार्थ अनादि शक्ति जब प्रकृति के परमाणुओं में कार्य करती है तो वह तेजः अर्थात् अर्वः कहाती है। और यही शक्ति जब परमाणुओं में असाम्यावस्था उत्पन्न करती है तो इन्द्र प्रकट होता है। जब तक परमात्मा की शक्ति परमाणु पर आरूढ़ रहती है वह वायु अथवा वैश्वानर कहाती है।

इसी प्रकार सोलह की सोलह कलायें प्रकृति के रूप हैं। यद्यपि उनमें काम करने वाली शक्ति परमात्मा की है, परन्तु वे कलायें भी हैं क्योंकि वे प्रकृति का रूप हैं।

अतएव हमारा केवल इतना ही कहना है कि वे कलायें परम पुरुष परमात्मा की तभी कहलाती हैं जब प्रकृति उनको रूप प्रदान करती है।

समुद्र का जल नदियां नहीं हैं। जल तो जल ही है। नदी किनारों का नाम है। इसी प्रकार नदियां किनारे के नाम हैं। जैसे जल बिना किनारों के नदी नाम धारण नहीं करता, इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति जब तक प्रकृति के संयोग में नहीं आती, तब तक वह कला नहीं कही जा सकती।

हम तो प्रकृति को भी ब्रह्म ही मानते हैं। इस कारण दोनों के संयोग को ही कला कहते हैं। बिना प्रकृति के माध्यम के परमात्मा की शक्ति कार्य नहीं कर सकती। देवता प्रकृति के ही रूप होते हैं। अतः कला प्रकृति और परमात्मा के संयोग का नाम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ।। ७ ।।

अर्थ—उस मुनि पिप्लाद ने उनको कहा, इस परब्रह्म के विषय में मैं इतना ही जानता हूं। इससे और अधिक (जानने योग्य) है भी नहीं।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ।। ८ ।।

अर्थ—इस प्रकार जिज्ञासुओं ने मुनि पिप्लाद की स्तुति की—आप हमारे पिता हैं, आपने हमें अविद्यारूपी नदी के पार के किनारे पर पहुंचाया है। आप परम ऋषि हैं, आप परम ऋषि हैं। आपको हमारा बारम्बार नमस्कार है।

सारांश

जिज्ञासुओं ने छः प्रश्न पूछे हैं। संक्षेप में वे प्रश्न और उनके उत्तर इस प्रकार हैं—

१. ये सारी प्रजायें किससे उत्पन्न हुई हैं ?

ऋषि का उत्तर है कि प्रजापति ने कामना की और प्राण तथा रयि का संयोग हुआ। तब समस्त चराचर जगत् की सृष्टि हो गई।

प्राण परमात्मा की शक्ति है और रयि प्रकृति।

२. इस प्रजा, चराचर जगत् को, कितने देवता, दिव्य शक्तियां धारण करती हैं और उनमें मुख्य कौन है ?

ऋषि ने देवताओं की गणना कर दी। चार महाभूत, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और मन। ये शरीर को धारण करती हैं। और इनमें श्रेष्ठ प्राण सर्वश्रेष्ठ है।

३. प्राण का उत्पत्ति स्थान कहां है और यह शरीर में किस प्रकार आता है ?

प्राण परमात्मा की शक्ति है। वैसे तो यह जड़ और चेतन, दोनों प्रकार के पदार्थों में काम करता है परन्तु यहां पर प्रश्न शरीर के विषय में किया गया है। इस कारण ऋषि ने शरीर की बात ही कही है। प्राण सूर्य से अन्न में आता है और अन्न से शरीर में आता है। बच्चे में भी भ्रूण बनने में और भ्रूण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने के कुछ काल पर्यन्त माता-पिता के प्राण का अंश ही काम करता है और बाद में मां के रक्त द्वारा प्राण बालक को मिलने लगता है। मां द्वारा खाये गये अन्न से उसके रक्त में प्राण-शक्ति का संचार होता है।

४. प्राणी में कौन सोता है ? कौन जागता है ? कौन सुख-दुःख का अनुभव करता है ?

मन सोता है अथवा जागता है। मन ही स्वप्न देखता है। स्वप्न में जो कुछ देखता है, उस देखे-सुने का स्मरण ही होता है। सुख-दुःख का भोगने वाला जीवात्मा है।

५. मनुष्य में जो पुरुष है वह ओंकार का भजन करने से किस लोक में जाता है ?

ओंकार ब्रह्म का नाम है। इसकी तीन मात्रायें हैं और तीन प्रकार का ब्रह्म है। वे तीन ब्रह्म हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। तीन मात्राओं के नाम हैं—सत्, चित् और आनन्द। प्रकृति ब्रह्म की एक मात्रा है। वह है सत् अर्थात् सदा बना रहना। जीवात्मा की दो मात्रायें हैं—सत् और चित्। यह सदा बना ही रहता है और चेतन भी है। परमात्मा की तीन मात्रायें हैं। सत्, चित् और आनन्द। परमात्मा सदा बना रहता है, सदा चेतन है और सदा आनन्दमय भी है।

केवल सत् मात्रा अर्थात् प्रकृति का चिन्तन करने वाला इस लोक में ही रत रहता है। उसे इस लोक की प्राप्ति होती है।

सत् और चित् मात्राओं का ध्यान करने वाले को अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाले को चन्द्रलोक प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मरने पर कुछ काल के लिए वह जीवात्मा पृथिवी के बाहर उतने अन्तरिक्ष में घूम फिर सकता है जो चन्द्र की परिधि के भीतर है। कुछ देर अपने कर्मफल के अनुसार उस लोक में रहकर वह पुनः इस पृथिवी पर जन्म लेता है।

और जो जीवात्मा तीन मात्रा, सत्, चित् और आनन्द का चिन्तन करता है, अर्थात् जो तीन मात्रा वाले ब्रह्म, परमात्मा का चिन्तन करता है वह द्युलोक में जाता है और कई मन्वन्तरों तक उसमें विचरता है।

६. सोलह कला वाला पुरुष कौन है और वह कहां रहता है ?

सोलह कला परमात्मा के कारण ही होती हैं। उपनिषद्कार ने जो कलायें गिनाई हैं और जिन्हें हम षोडश कलायें मानते हैं उनमें कुछ भेद है। तदपि उनका स्रोत एक ही है। वह परमात्मा ही है। परमात्मा की अनादि शक्ति प्रलय काल में सोई रहती है। सृष्टि-रचना के समय जागृत हो जाती है। तब वह प्राण अथवा तेज कहलाती है। उस तेज का जब प्रकृति से संयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है तो सोलह कलायें बन जाती हैं। नदियों के जल की भांति नदियों का जल समुद्र में मिल जाने के समान प्रलय काल में अनादि शक्ति परमात्मा में लीन हो जाती है और प्रकृति नदी के किनारों की भांति पृथक् रह जाती है। और सब कलायें एक परमात्मा की अनादि शक्ति का रूप हो जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतरेयोपनिषद्

यह उपनिषद् ऋग्वेद के ऐतरेयारण्यक के द्वितीय आरण्यक के ४, ५ और ६ अध्याय ही हैं।

आरण्यक क्या हैं ? इस विषय में पाठकों को अवगत करा देना उचित होगा। जिस समय वेदों का आविर्भाव हुआ था, उस समय वेद भाषा और लोक भाषा एक ही थी। यदि यह कहा जाये तो और भी उपयुक्त होगा कि वेद उस समय की लोक-भाषा में ही रचे गये थे। उस काल में जब ऋषि मन्त्र उचारते थे तो श्रोतागण उसका अर्थ भलीभांति समझ जाया करते थे।

कालान्तर में लोकभाषा विकृत होती गई, किन्तु वेद तो जिस भाषा में एक बार रचे गये, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन आने की सम्भावना नहीं थी। जब लोकभाषा बहुत ही विकृत हो गई, तब वेदार्थ ग्रहण करने में कठिनाई होने लगी।

उस काल में विद्वानों ने मन्त्रों की व्याख्या करनी आरम्भ कर दी। वे व्याख्यायें वेदों की शाखायें कहलाने लगीं। तत्कालीन ऋषियों ने वेद के इक्कीस भाग करके उनको अपने शिष्यों को वितरित कर दिया और उन शिष्यों का यह कर्त्तव्य हो गया कि वे अपने-अपने भाग की व्याख्या किया करें। जब वे शिष्यगण मन्त्रों की व्याख्या करते थे तो उस समय कुछ शब्दों को वे अपनी ओर से जोड़ दिया करते थे।

ऋषि-शिष्यों के परिवार वेद की अपनी-अपनी शाखा के संरक्षक बन गये। उन परिवारवालों ने अपने-अपने वेद-विभाग पर टिप्पणी भी लिखी। ये टिप्पणियां ही आरण्यक कहलाये।

इस प्रकार ये आरण्यक वेदों पर ऋषियों अथवा उनके शिष्यों द्वारा रचित टिप्पणियां हैं। ऋग्वेद की शाखायें तो अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उन पर ऋषियों की टीका-टिप्पणियां अर्थात् आरण्यक कुछ-कुछ अथवा कहीं-कहीं उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार ऐतरेय ऋषि द्वारा रचित आरण्यक उस ऋषि के नाम पर ऐतरेय-आरण्यक नाम से उपलब्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान उपनिषद् इसी आरण्यक के तीन अध्याय हैं। इस परिपेक्ष्य में इस उपनिषद् को वेद के किसी अंश की टीका-टिप्पणी ही समझना चाहिए।

स्वामी शंकराचार्य उपनिषदों को परम-गूढ़-ज्ञान की खान मानते थे। कई अंशों में तो वे उपनिषदों को वेदों से भी अधिक सत्य का प्रतिपादन करने वाला मानते थे। हमारी दृष्टि में ये उपनिषद् व ऋषियों द्वारा की गई वेदों की व्याख्या रूप उनके विचार ही हैं। इस कारण जहां कहीं भी हमको वेद और उपनिषद् में विभेद दृष्टिगोचर होता है उसे अपने ज्ञान के अनुसार हम अपने पाठकों के सम्मुख स्पष्ट करने का यत्न भी करते हैं।

वेद और उपनिषदों को हम एक ही कोटि के ग्रन्थ नहीं मानते। वेद को तो हम अपनी परम्परा के अनुसार अपौरुषेय मानते हैं। अपौरुषेय का अभिप्राय है वह ज्ञान जो अनादि है। वह ज्ञान उतना ही प्राचीन है जितना कि परमात्मा।

वह ज्ञान सदा से ही विद्यमान है। जब-जब भी ज्ञान को समझने वाले जीव इस जगत् में उत्पन्न होते हैं वह ज्ञान उनको नैसर्गिक रूप में प्राप्त हो जाता है। वह ज्ञान ही वेद कहा जाता है। उसपर ज्ञानवान् जीव व्याख्यायें करते रहते हैं। परन्तु व्याख्या और मूल कभी भी परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। यदि कहीं विरोध हो तो उस अवस्था में किसको ठीक माना जाये यह विचारणीय हो जाता है। दर्शनशास्त्रों ने इसका निर्णय करने का एक उपाय सुझाया है। वह है :—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।। ब्र० सू० १-२-१ ।।

अर्थ—जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसके ज्ञान से सत्य ज्ञान अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान होता है। सर्वत्र प्रसिद्ध है यह कार्य-जगत्, जो सब स्थान पर दिखाई देता है।

इसलिये जहां उपनिषद् और वेद में विभेद दृष्टिगोचर हो, वहां इस प्रत्यक्ष जगत् को देख और समझकर निर्णय किया जा सकता है।

इस कसौटी पर हमने अपने उपनिषद् भाष्यों में जहां-जहां हमें वेद से कुछ अन्तर समझ में आया है, परखने का यत्न किया है।

अभी तक के अनुभव से हमारा यही मत सुदृढ़ हुआ है कि जहां उपनिषद् वेद विपरीत प्रतीत हुआ, वहां हमें वेद का मत ही सत्य प्रतीत हुआ है। समय-समय पर यथास्थान हम उपनिषद् वाक्यों की वेद और तर्क से परीक्षा करते रहे हैं।

स्वामी शंकराचार्य अध्यात्म के विषय में तर्क को वर्जित करते हैं। उपनिषद् वाक्य को वे तर्क की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। इसे हम ठीक वैसा ही समझते हैं जैसा कि गुरु, पीर अथवा पैगम्बर के वाक्य को सर्वथा निर्भ्रान्त मानना। इस विचार को हम अन्धकार में ले जाने वाला मानते हैं। हमारी दृष्टि में उपनिषद् निर्भ्रान्त नहीं हो सकते। हम तो वेद को भी तर्क और जगत् की कसौटी पर कस-कर परीक्षा करने के पक्ष में हैं। यही ब्रह्मसूत्र में कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय में हम स्वामी शंकराचार्य जी को अशुद्ध मानते हैं। इस कारण उनके अनेक विचारों को अशुद्ध मान हम उनसे असहमति व्यक्त करते हैं।

इसी दृष्टि से हम उपनिषद् के अध्ययन को अपने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का यत्न कर रहे हैं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि परमात्मा की ओर से किसी प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता ही क्या थी ? परमात्मा को इसकी चिन्ता क्यों हुई ? जो अपने कर्म-फल से इस संसार में जन्म लेगा उसको ज्ञान देने की आवश्यकता है क्या ?

इस विषय में हमारा तो यही मत है कि परमात्मा को इस प्रकार की कोई चिन्ता नहीं है। वेदज्ञान भी परमात्मा द्वारा रचित नहीं है। वेदज्ञान तो तब से ही विद्यमान है जबसे परमात्मा का अस्तित्व है। अर्थात् परमात्मा की भांति वेद-ज्ञान भी अनादि है। यह ज्ञान इस चराचर जगत् के स्रोत का और इसके बनने तथा इसके अपने मूल कारण में लय हो जाने का है। क्योंकि यह चराचर जगत् सत्य है, इस कारण इसका ज्ञान भी सत्य है।

इसी दृष्टि से हम उपनिषदों का अध्ययन कर रहे हैं।

यह एतरेयोपनिषद् भी जगत् रचना पर ही है। वास्तव में अध्यात्म है ही जगत्-रचना तथा जगत् के मूल कारण में लीन होने का वृत्तान्त।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्ति पाठ

ओं वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरान्वीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीते। नाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

अर्थ—मेरी वागिन्द्रिय मन में स्थित हो और मन वाणी में स्थित हो। वेद का ज्ञान मुझमें आये। सुना हुआ ज्ञान मुझको न छोड़े। इस प्रकार अध्ययन किया हुआ मुझे स्मरण रहे। दिन-रात मैं ऋत का त्याग न करूं। मैं सत्य बोलूं। ऋतों का त्याग न करूं। वह मेरी रक्षा करे। मेरे वचन की रक्षा करे। मैं अपने वचन की रक्षा करूं। मेरी रक्षा हो, मेरे वचन की रक्षा हो।

यहां पर परमात्मा से याचना की गई है। इससे स्पष्ट है कि याचना करने वाला परमात्मा से कोई भिन्न ही है। परमात्मा सदा एकरस रहता है। इस कारण ऐसा सम्भव नहीं है कि परमात्मा का एक अंश दूसरे अंश से कुछ मांगने की आवश्यकता समझे।

याचक ने प्रार्थना की है कि उसका मन और वाणी एक-दूसरे में प्रतिष्ठित हों। इसका अभिप्राय यह है कि वाणी जो कुछ करे वह मनन करने के उपरान्त करे। और मन जो कुछ कहे वही वाणी बोले।

'वाणी'—इस प्रकार एक इन्द्रिय के कहने से अन्य भी सारी इन्द्रियों का अभिप्राय समझ लेना चाहिए। वाणी को कर्मेन्द्रियों का प्रतिनिधि समझना चाहिए।

इस याचना में बुद्धि के विषय में कुछ नहीं कहा है। इसका कारण सम्भवतया यही होगा कि मन और बुद्धि दोनों ही महत् का एक अंश ही समझे जाते हैं। महत् का एक ही अणु है, जो दोनों, अर्थात् मन और बुद्धि का, कार्य करता है अथवा दो भिन्न अणु हैं, यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है। दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से यह कहा जा सकता है कि ये दोनों महत् के अणु होते हुए भी दोनों भिन्न-भिन्न अणु होने चाहिएं। इसपर भी कुछ लोग एक ही अणु मानते हैं जोकि दो कार्य करता है। इसलिए बुद्धि का पृथक् वर्णन न करना किसी प्रकार दोषयुक्त नहीं कहा जा सकता।

जीवात्मा के लिए कुछ नहीं मांगा गया है। परन्तु किसी बात का अभाव उसका विरोध नहीं माना जा सकता।

मांगने वाला कह रहा है कि वाणी मेरे मन में स्थित हो। इससे यह सिद्ध है कि मन का स्वामी मन के अतिरिक्त है।

हम जीवात्मा के इस विवाद को आरम्भ में ही स्पष्ट कर रहे हैं। उसका कारण यह है कि कई भाष्यकारों ने जीव और परमात्मा को एक ही मानकर उपनिषद् का भाष्य किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकन्नु सृजा इति ।। १ ।।

अर्थ—पहले एक आत्मा ही था। उसके अतिरिक्त अन्य कोई हिलने-डोलने वाला नहीं था। उसने ईक्षण किया कि लोकों की रचना करूं।

आत्मा की व्युत्पत्ति 'अत्' धातु से हुई है। यह गमन बोधक धातु है। मन्त्र में भी कहा है कि कोई अन्य 'मिषत्' अर्थात् हिलने-डोलने वाला नहीं था। तो क्या इसका अर्थ यह लें कि न हिलने-डोलने वाला कोई था, जो आत्मा के अतिरिक्त था?

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने स्वीकार किया है कि आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। न तो कुछ हिलने-डोलने वाला और न ही-हिलने-डोलने वाला।

उनकी भाषा स्पष्ट नहीं है। यदि उपनिषद्कार का अभिप्राय यह है कि एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था, न चल और न अचल तो घोषणा कुछ इस प्रकार होती—'एवाग्र इदमेक आत्मा आसीत् नान्यत्'। अधिक कुछ लिखने की ही आवश्यकता नहीं थी। 'नान्यत् किंचनं मिषत्' लिखने से बात कुछ संशयात्मक हो गई है। जब कुछ था ही नहीं तो दूसरा पद लिखने की आवश्यकता ही नहीं थी।

स्वामी शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्वयं एक संशय उठाया है। वह स्वयं ही पूछते हैं कि पहले एक ही था तो क्या अब एक से अधिक हैं? इस संशय का स्वयं ही निवारण करते हुए कहते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व से यह जगत् नाम रूपादि भेद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त न होने के कारण आत्मभूत और एकात्म शब्द की प्रतीति का ही विषय था। और इस समय नाम रूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से यह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय है और एकमात्र आत्म शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है।

स्वामीजी का यह वाक्य सर्वथा अर्थहीन है और यह एक ही वाक्य में परस्पर विरोधी भाव व्यक्त करने वाला है। इस वाक्य में आप लिखते हैं—

'इस समय नाम रूपादि भेद के व्यक्त प्रकट हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय…'

इतना लिखकर वे अगले ही सांस में लिखते हैं—

'तथा एक मात्र आत्मा शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है।'

इस वाक्य में 'तथा' शब्द के पूर्व और पश्चात् परस्पर विरोधी कथन है।

यदि हम भाषा की बात को छोड़ भी दें तो हमारा कथन यह है कि ऋषि शान्तिपाठ में किसी से कुछ याचना कर चुका है। तो क्या उसने अपने आपसे ही याचना की थी? आगे चलकर हम उपनिषद् में देखेंगे कि इस विरोधाभास के विषय में ऋषि स्वयं क्या कहता है।

हम समझते हैं कि ऋषि अपनी अटपटी भाषा में कह रहा है, उस समय, अर्थात् रचना से पूर्व, एक आत्मा के अतिरिक्त कुछ हिलने-डोलने वाला नहीं था। यह वाक्य सर्वथा वेदानुकूल हीं है।

वेद में कहा है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रा-या अहन् आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

॥ ऋ० १०-१२९-२॥

अर्थ—उस समय न तो कोई वस्तु नष्ट हो रही थी, न ही बन रही थी। न दिन था और न रात थी, न कुछ जानने ही योग्य था। एक निश्चल शक्ति थी और उसके साथ एक अपने आप में स्थित पदार्थ था।

वेद में निश्चल शक्ति को 'आनीत् अवातम्' कहा है। और अपने आप में स्थित को 'स्वधा' कहा है। दो वस्तुएं बताई हैं।

हम समझते हैं ऐतरेय उपनिषद् के प्रवक्ता ने भी यही कहा है। यहां हिलता-डोलता कुछ नहीं था। 'आनीत् अवातंम्' से अभिप्राय एक आत्मा से है।

वेदमन्त्र में 'स्वधा' से अभिप्राय किसी निश्चल पदार्थ से है। इस पदार्थ के विषय में सांख्य दर्शन में कहा है—सत्व रजस् तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः।

यह स्वधा अपने आप इस कारण स्थित थी, क्योंकि यह सत्व, रजस्, तमस तीन शक्तियों की साम्यावस्था थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमापोदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

अर्थ—उसने ये लोक बनाये, अम्भ, मरीचि, मर और आपः। जो द्युलोक से परे है, वह अम्भ है। अन्तरिक्ष मरीच है। मर लोक पृथिवी पर है, जो इनका आधार है वह आपः है।

इस मन्त्र में एक शब्द है 'अधस्तात्ता'। सामान्य भाषा में इसका अर्थ होता है—'नीचे स्थित'। इसके ऊपर से नीचे' यह भी अर्थ हो सकते हैं। परन्तु जब अभी सृष्टि रचना हो ही रही थी तब ऊपर-नीचे के क्या अर्थ हो सकते हैं, यह कहा नहीं जा सकता। 'अधस्तात्ता' का अर्थ, 'जो आधार में स्थित है।" होता तो यह भी नीचे अर्थात् जड़ में ही परन्तु भाव में अन्तर हो जाता है। आधार में अभिप्राय है मूल में।

इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ बनेगा—उसने लोकों का सृजन किया। लोकों से अभिप्राय है रचित जगत् में स्थान से। इतनी प्रकार की रचना के स्थान बने। ये स्थान इस प्रकार गिनाये गये हैं :—अम्भ, मरीचि, मरः और आपः।

उपनिषद्कार ने आगे कहा है कि द्युलोक से परे जो है वह अम्भ है। द्युलोक वह स्थान है जो सूर्य के प्रभाव में है। इसका अर्थ यह हुआ कि अम्भ वह स्थान है जो सूर्यलोक से परे है।

यहां पर सूर्य से परे का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। उस सूर्य का, जो हमको प्रकाश दे रहा है, अपना एक प्रभाव क्षेत्र है। इसके चारों ओर बहुत से नक्षत्र घूम रहे हैं। उन नक्षत्रों में मुख्य हैं—बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, शनि, बृहस्पति, वरुण, हरि और पाताल। इनमें से पाताल सबसे दूर है।

ये नक्षत्र सूर्य के चारों ओर अण्डाकार गति में घूम रहे हैं। सबसे दूर वाला नक्षत्र पाताल अधिक-से-अधिक ४५,०९,००,००० मील दूर तक जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सूर्य का प्रभाव क्षेत्र इतना दूर तक तो है ही जितनी दूर तक पाताल नक्षत्र है।

उपनिषद्कार का कहना है कि सूर्य से इतने अन्तर के परे जो नक्षत्र है वह अम्भ है। यह कितने दूर तक है, इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि वह मनुष्य की कल्पना से बाहर है। ब्रह्मसूत्र में केवल यह कहा गया है :—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १-३-१० ॥

इसका अर्थ है कि परमात्मा अम्बर के अन्त तक धारण किये हुए है। परमात्मा को सर्वव्यापक माना जाता है। इसके अम्भ की सीमा अनन्त कही गई है।

उपनिषद्कार कह रहा है सूर्य के प्रभाव क्षेत्र को छोड़कर उसके बाहर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण क्षेत्र जो असीम है वह अम्भ है।

उपनिषद्कार ने मरीचि उस क्षेत्र को कहा है जोकि सूर्य की किरणों का है। जहां तक सूर्य किरणें पहुंचती हैं, वह सब क्षेत्र मरीचि कहा गया है। हमने मुख्य नक्षत्रों में से सबसे दूर पाताल नक्षत्र बताया है और यह सूर्य से ४५,०९,००,००० मील दूर तक जाता है। वहां तक सूर्य किरणें जाती ही हैं। कदाचित् इससे भी दूर तक जाती हैं। अतः पृथिवी से लेकर सूर्य से इतनी दूर तक मरीचि क्षेत्र है।

उपनिषद्कार मरः क्षेत्र उस क्षेत्र को कहता है जहां पदार्थ बनते और टूटते हैं। यह क्षेत्र नक्षत्रों पर का ही स्थान है। केवल पृथिवी पर का तो है नहीं। कुछ भाष्यकार मरः से केवल पृथिवी पर का ही स्थान मानते हैं।

आपः का अभिप्राय है वह स्थान जिसमें आपः फैले हुए हैं। आपः जब सूर्य से आते हैं तो सबसे पहले वनस्पतियों में ही जाते हैं। अतः आपः का क्षेत्र वनस्पति जगत् है। आपः आधार है सब प्राणी जगत् का, इस कारण इसको अधस्तात्ता कहा है।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥३॥

अर्थ—उसने विचार किया कि ये लोक तो तैयार हो गये। अब लोकपालों की रचना करूं। ऐसा कह कर उसने जल में से एक पुरुष उत्पन्न किया और उसे मूर्च्छित कर दिया।

इससे पूर्व हमने बताया है कि उपनिषद् में परमात्मा द्वारा चार लोकों की सृष्टि की गई बताई जाती है। ये लोक हैं—अम्भ, मरीचि, मरः और आपः। हमने यह भी बताया है कि आपः आधार है पूर्ण सृष्टि का, विशेषतया प्राणी सृष्टि का।

इस घटना का वर्णन वेद में इस प्रकार किया गया है—जब सब शान्त था और परमात्मा की शक्ति भी निश्चल थी, तब एक तेज रूप शक्ति उत्पन्न हुई। वह घोर शोर मचाती हुई परमाणुओं पर आरूढ़ हो गई। तब परमाणुओं में से इन्द्र प्रकट हुआ।

॥ ऋ० १-१२९-२ तथा १-१६३-१, २ ॥

इसी बात को उपनिषद् में कहा है 'उसने विचार किया और सृजन किया।' सृजन करते हुए उसने चार लोक बनाये। जिस केन्द्र स्थान से रचना आरम्भ की थी, उस स्थान पर पदार्थ बनने और टूटने लगे थे। उस स्थान को उपनिषद् में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मरः कहा है। वहां प्रकृति के परमाणु मिलकर निबन्धन बना रहे थे। साथ ही जहां निबन्धन सीमा से बड़े बन जाते थे वहां इन्द्र का वज्र उन को तोड़ने-फोड़ने लगा था।'

॥ऋ० १-३२-१, २॥

इन निबन्धनों को वेद में आपः कहा है।

॥ऋ० १-१६३-३, ४॥

इन आपः से ही पूर्ण जगत् बना है।

अब यहां कहा है कि लोकपाल बनाने से पूर्व परमात्मा ने एक पुरुष की सृष्टि की और फिर उसे मूर्च्छित कर दिया।

लोकपाल से उन शक्तियों का अभिप्राय है जिनसे सृष्टि कार्य चलता है। उन शक्तियों का अभिप्राय तो आगे लिखेंगे परन्तु पुरुष जो उत्पन्न हुआ वह निस्सन्देह इन्द्र था जिसकी उत्पत्ति का कथन ऋग्वेद १-१६३-२ में है।

उपनिषद् का कहना है कि परमात्मा ने पहले उस पुरुष को मूर्च्छित कर दिया।

इसका अभिप्राय तो यही हो सकता है कि कुछ काल तक इन्द्र से किसी प्रकार का कार्य नहीं लिया गया। यह अवस्था हिरण्यगर्भ की थी। कहा जाता है कि एक देव संवत्सर तक हिरण्यगर्भ भीतर-ही-भीतर पकता रहा। तब क्या हुआ ? कहा है—

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

अर्थ—उस विराट् पुरुष को परमात्मा ने तपाया। तपाने से उस विराट् पुरुष का मुख खुल गया। जैसे अण्डा फट जाता है। मुख से वाणी निकली। तदनन्तर नासिकायें बन गईं। उन नासिकाओं में से प्राण निकलने आरम्भ हुए, यह वायु था। आंखें खुल गईं और आंखों से चक्षु, देखने की शक्ति, प्रकट हुई। चक्षु से सूर्य देवता हुआ। उसके बाद दोनों कान खुले और उनसे सुनने की शक्ति प्रकट हुई। श्रोत्रों से उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवता शक्ति-दिशाय बन गईं। उसके बाद त्वचा बनी। त्वचा से लोम बने और स्पर्श शक्ति बन गई। इन लोमों से अन्न और वनस्पतियां बनीं। फिर हृदय खुला। उससे उत्पादन शक्ति उत्पन्न हुई और उत्पादन शक्ति से आपः बने।

हमने पूर्व मंत्र की विवेचना में बताया है कि विराट् पुरुष से अभिप्राय हिरण्यगर्भ है। वास्तव में परमात्मा की अग्नि, जो प्रलयकाल में सोई हुई थी एक केन्द्र स्थान से जागृत होनी आरम्भ हुई थी। जागृत होते ही यह तीव्र गति से चारों ओर फैल गई। और एक बहुत बड़े क्षेत्र पर, जो अण्डाकार था, कार्य करने लगी।

इस स्थान को हिरण्यगर्भ इस कारण कहते हैं कि गर्भ की भांति इसके भी भीतर-ही-भीतर पदार्थ बनते-बिगड़ते रहे। इसे हिरण्य अर्थात् सोने के रंग का इस कारण कहा जाता है क्योंकि यह कुछ ही काल में प्रकाशित होने लगता है। मन्त्र में भी कहा है कि परमात्मा ने इस विराट् पुरुष को तपाया, तपने से प्रकाश उत्पन्न हुआ और यह चमकने लगा। खगोल विद्या के विद्वान् जानते हैं कि इस प्रकार के चमकते हुए कई गोले अब भी आकाश में विचर रहे हैं। इनको वे 'नेब्युला' कहते हैं। वेद में एक अन्य स्थान पर इसे 'शक्ति-धूम' नाम से भी स्मरण किया गया है।

उपनिषद्कार इसका वर्णन इस प्रकार करता है कि तपाने से इसका मुख खुल गया। उपनिषद्कार का अभिप्राय यह है कि ताप के बढ़ जाने से यह हिरण्य-गर्भ फटा, जैसे अण्डा फट जाता है।

इसके आगे का वर्णन अलंकार मात्र है। यहां कहा है कि मुख खुला तो प्राण निकलने लगे। वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि ताप से वायुएं बनी होंगी और वे जिस स्थान पर बहती होंगी उसको नासिका का नाम दिया है और साथ ही कहा है कि प्रकाश उत्पन्न हुआ और प्रकाशित स्थान को आंखें कह दिया। यह सब अलंकार है।

वस्तुस्थिति कुछ ऐसी प्रतीत होती है कि जब निर्माणाधीन जगत् को विराट् पुरुष का नाम दिया गया है तो उसमें होने वाले परिवर्तनों को भी उस विराट् पुरुष के अनुरूप ही नाम दिये गये हैं।

वर्तमान युग के खगोल विद्या के जानकार यहां वर्णित अण्डे के फटने को 'बिग बैंग' का नाम देते हैं। इसका अर्थ है 'महान् धमाका'। इस अण्डे में जो कुछ बना उसका वर्णन उपनिषद्कार ने किसी मनुष्य के शरीर बनने की भांति किया है। वास्तव में मां के गर्भ में बच्चे का बनना भी उसी प्रकार होता है, जैसा उपनिषद् में वर्णन किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव इस सारी व्याख्या को अलंकार मात्र ही समझना चाहिए। अलंकार भी ऐसा कि जो कहीं दिखाई ही नहीं देता।

वर्तमान विज्ञान यह मानता है कि हिरण्यगर्भ में बहुत-से पदार्थ बनने लगे थे। वे आज पृथिवी पर देखने में आते हैं। कहा जाता है कि वनस्पतियों के बीज भी इस हिरण्यगर्भ में ही बनने लगे थे। वनस्पतियों के बीज से अभिप्राय है रासायनिक तत्त्व, जो वनस्पतियों के मूल हैं। ये हैं नाइट्रोजन और हाईड्रोजन। इन दो रासायनिक तत्त्वों से ही सब वनस्पतियां बनी हैं और ये सब हिरण्यगर्भ में ही बन गये थे।

वनस्पतियों में चार तत्त्व ही मुख्य होते हैं। नाइट्रोजन, कार्बन, आक्सीजन तथा हाईड्रोजन। यह माना जाता है कि सूर्य बनते ही हाईड्रोजन बना। तदनन्तर तीव्र अग्नि से वह हाईड्रोजन नाइट्रोजन में परिवर्तित होने लगी। नाइट्रोजन परिवर्तित हुई कार्बन में। इससे आक्सीजन बनी और उससे मिलकर वनस्पतियां बनने लगीं।

यही नहीं कि पेड़, पत्ते, पुष्पादिक हिरण्यगर्भ में ही बन गये थे। परन्तु इनके बीज अर्थात् आक्सीजन, हाईड्रोजन और नाइट्रोजन अन्तरिक्ष में हिरण्यगर्भ में ही बन गये थे। यही वेद का भी मत है। वर्तमान विज्ञान का भी यही मत है।

विराट् पुरुष के बनने का भी यही अभिप्राय है।

द्वितीय खण्ड

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

अर्थ—वे यह सब प्रकार के रचे हुए देवता गण इस महाअर्णव में पतित हो गये (सृजन हो गये) उन देवताओं में भूख और प्यास आ गई। वे देवता इसको, अपने रचने वाले को, बोले—हमें हमारा धर्म बताइये। जिसमें रहकर हम अन्न खा सकें।

उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में सृष्टि रचना के आरम्भ का वर्णन किया गया है। हिरण्यगर्भ के बनने का और उसमें पदार्थों के पकने का वृत्तान्त अति संक्षेप में बताया गया है। ताप, वायु, प्रकाश इत्यादि का बनना कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस खण्ड में जो बना उसका वर्णन किया जा रहा है। बहुत पदार्थ बने। उनमें से कुछ को देवता कहा गया है। यह वेद में कहा है कि सबसे पहले इन्द्र बना (ऋ० २-१२-१)। इन्द्र के दो अश्व बने। अश्व वे होते हैं जो गाड़ी को चलावें। इन्द्र सृष्टि रचना के निमित्त प्रकट हुआ था। इस कारण उसके अश्व सृष्टि रचना करने वाले उसके दो अंश थे। ये थे मित्र और वरुण। तन्दनतर इन्द्र से मरुत बने। ये सब देवता कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त सूर्य, पृथिवी, नक्षत्र, चन्द्र और तारागण बन गये। ये सब भी देवता कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें दिव्य गुण पाये जाते हैं।

उपनिषद् के इस मन्त्र में कहा गया है कि जब ये देवता बने तो इनमें भूख और प्यास उत्पन्न हो गई। इसका अभिप्राय यह है कि निर्माण के समय ये पूर्ण नहीं थे। इनके पूर्ण होने के लिए कुछ और अधिक समय की आवश्यकता थी उसके लिए ही अन्न की आवश्यकता हुई। अन्न से अभिप्राय है वह पदार्थ जिससे उनका शरीर बन सके।

इन पृथिवी, चन्द्र, तारागण आदि का शरीर मनुष्य के शरीर की भांति अस्थि-चर्म-मय नहीं था। इस कारण इनका अन्न मनुष्य के अन्न के पदार्थ नहीं थे। इनका अन्न वह था जो इनके शरीर को बनाता है। यह मूल प्रकृति थी। सब देवता उस समय अधिकाधिक प्रकृति के परमाणुओं की मांग कर रहे थे। परमात्मा की शक्ति अग्नि से प्रकृति असाम्यावस्था में परिवर्तित हो रही थी, और उस असाम्यावस्था से निरन्तर आपः बन रहे थे। वे आपः ही थे जो इन देवताओं को पूर्ण करने के लिए आवश्यक थे।

यहां उपनिषद् के इस मन्त्र में कहा है कि उनके लिए कोई स्थान निश्चय किया जाय जहां पर ठहर कर वे आपः का भोग कर सकें और अपना कार्य सम्पन्न कर सकें।

पृथिवी का ही उदाहरण लिया जा सकता है। उपनिषद्कार का यह अभिप्राय है कि जब पृथिवी बन गई तो यह तब तक सूर्य के चारों ओर स्थिर पथ पर टिकी नहीं थी। इस कारण पृथिवी को अपना कार्य करने के लिए यह आवश्यक था कि वह एक स्थिर पथ पर चलने लगे जिससे वहां उसको शक्ति का भण्डार नित्य और निरन्तर मिल सके। जिससे कि वह अपने कार्य अर्थात् अपने पर के प्राणियों के पालन के लिए साधन प्रस्तुत कर सके।

प्राणियों के पालन के लिए चाहिए वायु, जल और वनस्पतियां। उसके लिए यथोचित उष्मा भी चाहिए। इस कारण यह अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए अपना स्थान पाने की मांग करने लगी।

इसी प्रकार अन्य देवताओं की अपनी-अपनी बात है। उपनिषद्कार का अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राय यह है कि जबतक देवताओं को उनके कार्य के योग्य स्थान नहीं मिला, तब तक वे काम नहीं कर सके।

प्रकृति ने, अभिप्राय यह कि परमात्मा के ऋतों ने देवताओं के स्थान निश्चय किये, जिससे उनको उनका अन्न अर्थात् आप: निरन्तर मिलने लगे, ताकि सृष्टि का कार्य सुचारुरूपेण चलने लगे।

सबसे पहले सूर्य स्थित हुआ। तब दूसरे नक्षत्र और देवता अपने-अपने स्थान पर स्थिर पथ पर आरूढ़ हुए और तब जगत् का व्यवहार चलने लगा।

ताभ्यो गामान्यता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

अर्थ—परमात्मा ने उनके लिये गाय लाकर दी और उनसे कहा कि इसमें रहो। वे देवता बोले, "यह पर्याप्त नहीं है।" तब परमात्मा ने उनके लिए अश्व लाकर दिया। उन्होंने (देवताओं ने) उसे भी पर्याप्त नहीं समझा।

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति।
पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

अर्थ—तब परमात्मा उनके लिए पुरुष ले आया। वे बोले, "यह सुन्दर बना है। निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है।" उन देवताओं से परमात्मा ने कहा—अपने-अपने आयतनों (निवास स्थानों) में प्रवेश कर जाओ।

मन्त्र संख्या १-१-२ में जब उपनिषद् का प्रवचन आरम्भ किया था तो लोकों के सृजन का वृत्तान्त आरम्भ किया गया था। और फिर कहा गया था कि एक विराट् पुरुष की सृष्टि की गई। हमने भी वहां इसी के अनुरूप उसकी व्याख्या कर दी थी।

उसके बाद कहा गया कि 'अण्डा फटा।' इसका वर्णन अन्य शास्त्रों में भी अंकित है। परन्तु इन मन्त्रों में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है कि जिनसे यह समझ में आने लगा है कि उपनिषद् मनुष्य में ही देवताओं का वर्णन कर रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्र १-१-४ में नासिका, मुख, चक्षु इत्यादि का उल्लेख है। वहां हमने इसे अलंकार नाम ही दिया था। हमारा तो यहां भी यही विचार है कि उपनिषद्कार अलंकार के रूपमें ही वर्णन कर रहा है। उपनिषद् में भी निर्वचन करने की वैदिक विधि ही प्रयोग में लाई गई है। जब पृथिवी पर प्राणी का शरीर बना तो वह बना था सूर्य की किरणों से तथा पृथिवी में विद्यमान सोम, आपः से। इन्हीं को गाय और अश्व कहा गया है। उपनिषद्कार कह रहा है कि शरीर में आने वाले देवता ने सूर्य की किरणों और सोम से बने शरीर को अपने निवास के लिये पर्याप्त नहीं समझा।

अर्थात् जबतक पुरुष शरीर में नहीं आया तब तक उस शरीर में देवता भी नहीं आये। शरीर के ये देवता क्या थे? पुरुष से उपनिषद्कार का क्या अभिप्राय है? यही समझने का विषय है।

किसी भी जीवित शरीर में कुछ अद्वितीय होता है। वह केवल सूर्य की किरणों और शरीर के पार्थिव अंश के आ जाने पर नहीं उत्पन्न होता। कहा है कि शरीर में उस अद्वितीय गुण उत्पन्न होने के लिए शरीर में पुरुष के आने की आवश्यकता समझी गई।

यह पुरुष जीवात्मा था। गाय अर्थात् सूर्य रश्मियों के आने से अथवा शरीर में पंचभूतों के समावेश से शरीर में जीवित शरीर का अद्वितीय गुण नहीं आता। जीवित शरीर में जीवन आने के लिए शरीर में पुरुष अर्थात् जीवात्मा का आना अनिवार्य माना गया है।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्रावशिद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

अर्थ—अग्नि ने वागिन्द्रिय होकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण होकर नासिका में प्रवेश किया। आदित्य ने चक्षु इन्द्रिय होकर नेत्रों में प्रवेश किया, दिशाओं ने श्रवणेन्द्रिय होकर कानों में प्रवेश (किया)। ओषधि और वनस्पतियों ने लोम होकर त्वचा में प्रवेश किया। चन्द्रमा ने मन होकर हृदय में प्रवेश किया। मृत्यु ने अपान होकर नाभि में प्रवेश किया। बल ने वीर्य होकर लिंग में प्रवेश किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कुछ इस मन्त्र में वर्णन किया गया है, उसका प्राणी के शरीर की वस्तु-स्थिति से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि मां के पेट में शुक्राणु और डिम्ब के संयोग से शरीर के अवयव बनने लगते हैं। शुक्राणु और डिम्ब में पिता और मां में उपस्थित प्राण का अंश होता है। माता-पिता के प्राण का यह अंश उसी प्रकार इनमें काम कर रहा होता है जैसे हवा में फेंका हुआ गेंद गति करता रहता है। यद्यपि फेंकने वाला हाथ गेंद पर नहीं होता। इस हाथ के बल को आवेग कहते हैं।

इसी प्रकार माता-पिता के बल का आवेग शुक्राणु और डिम्ब में कार्य कर रहा होता है। इस आवेग से शुक्राणु और डिम्ब संयुक्त होते हैं और फिर भ्रूण बनने लगता है। यह तब तक माता-पिता के बल के आवेग पर चलता रहता है जबतक जीवात्मा के रहनेयोग्य स्थान इस भ्रूण में नहीं बन जाता। तब जीवात्मा इस भ्रूण में आता है और तदनन्तर जीवात्मा के और उन शक्तियों के शरीर में आने से भ्रूण में परिवर्तन होने लगता है। उन शक्तियों का इस उपनिषद् में वर्णन किया गया है। उपनिषद्कार इतने अस्पष्ट रीति से इसका वर्णन करना है कि न तो उसका वस्तुस्थिति से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध प्रतीत होता और न ही शरीर-रचना विज्ञान से।

जबतक शरीर अथवा भ्रूण माता-पिता के बल के आवेग से बनता रहता है तबतक बाहर से किसी शक्ति की न तो आवश्यकता होती है न ही बाहर से शक्ति मिलती है। जीवात्मा के साथ ही जीवात्मा के कर्मफल के अनुसार परमात्मा की शक्ति अग्नि का आगमन होता है। यह मां के रक्त में मां के द्वारा खाये अन्न की शक्ति होती है। इस शक्ति का विभाजन निर्माणाधीन बच्चे का शरीर स्वयं में करता है।

अग्नि, वायु, आदित्य यह सब निरर्थक वर्णन है। परमात्मा का प्राण इस पृथिवी पर सूर्य रश्मियों के द्वारा आ रहा है। वह अन्न के द्वारा मां के रक्त में जाता है और वहां से बच्चे को भी मिलता है। यह परमात्मा का प्राण बच्चे के शरीर में बंट जाता है और भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में कार्य करता है।

हम समझते हैं कि उपनिषद् का यह मन्त्र किसी शरीर क्रिया-विज्ञान से अनभिज्ञ द्वारा किया गया है।

कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करने वाली शक्ति एक ही है। इनका स्रोत एक ही है। इनका कार्य, शरीर के अंगों की बनावट के कारण भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवता-स्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

अर्थ—उससे, परमात्मा से, भूख और प्यास ने कहा हमारे लिये रहने का स्थान बताइये।

तब उस परमात्मा ने कहा, "तुम दोनों को मैं इन देवताओं में ही बांट दूंगा, तुमको मैं उनका ही भागीदार बना दूंगा। अतएव जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है, उस देवता की हवि में ये भूख और प्यास भी भागीदार होती है।

इससे पूर्व के मन्त्र में जो कुछ बताया था वही अनर्गल था। उसमें यह अनर्गलता थी कि अग्नि, वायु, श्रवण-शक्ति इत्यादि भिन्न-भिन्न शक्तियां नहीं हैं। वे परमात्मा की एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। साथ ही वायु से नासिका खुल गई, श्रवण शक्ति से कान खुल गये, आदित्य से चक्षु खुल गये इत्यादि वस्तु-स्थिति से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं रखते।

परन्तु इस मन्त्र में कुछ शरीर क्रिया-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली बात बताई है। यह बताया है कि भूख-प्यास कहां रहें। इसका अभिप्राय हम यह समझते हैं कि शरीर में भूख-प्यास कैसे निवारण हो। भूख-प्यास कोई वास्तविक पदार्थ अर्थात शक्तियां नहीं हैं। वे शरीर के अंगों में गति उत्पन्न होने से शक्ति के व्यय हो जाने से उत्पन्न अभाव का नाम है।

उदाहरण के लिए शरीर में गति उत्पन्न होती है उस अन्न से जो प्राणी खाता है। हाथ-पांव चलते हैं, इससे उस ऊर्जा में से जो अन्न से शरीर में आई है, व्यय होता है। शरीर में ऊर्जा के व्यय होने से उसमें न्यूनता आती है। यह है भूख और प्यास। उपनिषद् में कहा है कि जो अन्न देवताओं अर्थात् शरीर के अंगों को ऊर्जा देता है, उसी से भूख और प्यास की भी तृप्ति होगी। इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्न शरीर के अंगों को मिल रहा है उसी अन्न में से भूख और प्यास मिटेगी।

इस सबका अभिप्राय यह है कि शरीर जिस अन्न से बनता है, उसी अन्न से शरीर के टूट-फूट की पूर्ति होती है। यह नहीं कि शरीर निर्माण के लिए कहीं अन्य से पदार्थ आते हैं और शरीर के अंगों में काम करने से होने वाले ह्रास की पूर्ति कहीं अन्यत्र से होती है।

जिस अन्न से शरीर बनता है, उसी अन्न से शरीर की टूट-फूट की पूर्ति भी होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

अर्थ—उसने विचार किया कि ये लोक और लोकपाल तो हो गये, अब इनके लिए अन्न रचा जाये।

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्यो ऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत।
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

अर्थ—उसने आपों को लक्ष्य करके तप किया। उन तपे हुए आपों से मूर्ति उत्पन्न हुई। वही अन्न है।

उपनिषद् के प्रथम अध्याय के दूसरे खण्ड में उपनिषद्कार ने रचना की विवेचना तो जगत् की रचना से ही आरम्भ की थी। परन्तु बाद में नासिका, मुख, श्रोत्र और आंखों का वर्णन करने लगा था। जिससे यह आभास होने लगा था कि उपनिषद्कार ब्रह्माण्ड से पिण्ड की तुलना कर पिण्ड का वर्णन कर रहा है। अब इस खण्ड में पुनः ब्रह्माण्ड को लक्ष्य कर वर्णन आरम्भ कर दिया गया है। यह तो ठीक है कि, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। दोनों की रचना में समानता है। परन्तु उस रचना में नामों की समानता नहीं है। नासिका, श्रोत्र और कान तथा भूख और प्यास का वर्णन तो पिण्ड में ही उपयुक्त था।

अब इस खण्ड में पुनः ब्रह्माण्ड वा वर्णन किया गया है। कहा है लोक और लोकपाल बन गये। ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में तो लोक हैं नक्षत्रादि और लोकपाल हैं उन नक्षत्रों पर रहने वाले प्राणी। उपनिषद्कार कह रहा है कि जब लोक और लोकपाल बन गये तब परमात्मा ने विचार किया कि इनके लिए अन्न होना चाहिए।

अन्न का अभिप्राय बताया जा चुका है—जो लोकों और लोकपालों की पालना कर सके। पालना का अभिप्राय है कि जो कुछ लोकपालों के कर्म करने से उनमें ह्रास उत्पन्न होता है उसकी पूर्ति करना। इसे भूख और प्यास का नाम दिया गया है।

जगत् में इस पृथिवी के अतिरिक्त भी लोक हैं। परन्तु उनमें किसी पर पृथिवी जैसी सृष्टि है अथवा नहीं, इस विषय में कुछ कह पाना कठिन है। दूसरे लोकों में क्या है और क्या नहीं है इसका विचार छोड़कर अपनी पृथिवी पर की सृष्टि का ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन किया जा सकता है।

यहां पर कुछ देवता तो हैं प्राकृतिक। उदाहरण दिया गया है सूर्य, चन्द्र, वायु अग्नि का। वेद में कहा गया है कि इनमें नित्य ह्रास हो रहा है। परन्तु ईश्वर की कृपा से इनमें होने वाला ह्रास निरन्तर पूरा भी किया जा रहा है। परमात्मा की अनादि शक्ति अग्नि इनमें होने वाली कमी को पूर्ण कर रही है। परमाणुओं को असाम्यवस्था में करके इनको अन्न प्रदान किये जा रहा है।

दूसरी प्रकार के देवता हैं प्राणी जो पृथिवी पर रहते हैं। एक प्राणी में भी अनेक देवता कार्य करते हैं। शरीर के देवताओं में दस तो इन्द्रियां हैं। मन है और बुद्धि है। इसके अतिरिक्त पाचन-क्रिया भी हो रही है। पचा हुआ अन्न शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुंचाया जा रहा है और उससे शरीर के सात धातु रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य बन रहे हैं।

ये सब देवता हैं जिनके आश्रय शरीर कार्य करता है। सब के सब दिव्यगुण वाले हैं। जगत् के देवताओं की भांति प्राणी के शरीर के देवता भी गतिशील हैं और दोनों में ह्रास उत्पन्न हो रहा है। इस ह्रास को पूर्ण करने के लिए इन देवताओं को अन्न दिया जा रहा है। उपनिषदकार इस मन्त्र में बता रहा है कि देवताओं के कार्य करने से जो ह्रास उत्पन्न हो रहा है उसकी पूर्ति के लिए परमात्मा देवताओं को अन्न दे रहा है।

इस मन्त्र (ऐत० १-२-३) में उस अन्न के देने का स्रोत और उसके देने की रीति का वर्णन किया गया है। कहा है कि परमात्मा ने अपः को तप्त किया। अपः को तप्त करने के लिए परमात्मा ने तप किया और उस तप से आपः तप्त हो उठे।

इससे पूर्व हम बता चुके हैं कि कर्म से होने वाले ह्रास की पूर्ति करने वाले पदार्थ को अन्न कहते हैं। इस अन्न के निर्माण के लिए ही परमात्मा ने अपनी अनादि शक्ति से आपः को तपाया। प्रश्न यह है कि अन्न क्या है ? और आपः इस अन्न को किस प्रकार निर्माण करता है ?

उक्त मन्त्र में कहा गया है कि जब आपः तप गये तो मूर्ति उत्पन्न हुई। अधिकांश भाष्यकार आपः का अर्थ जल करते हैं। यह अशुद्ध अर्थ है। आपः वेद भाषा का पारिभाषिक शब्द है और वेद में ही इसके अर्थ भी बताये गये हैं। आपः के बनने और इसके कार्य के विषय में ऋग्वेद १-१६३-१, २, ३, ४ में वर्णन किया है। इन मन्त्रों में लिखा है कि आरम्भ में अर्थात् रचना कार्य के आरम्भ में परमात्मा की अनादि अग्नि जिसे वहां अश्वाग्नि कहा है उत्पन्न हुई और घोर शब्द करती हुई अन्तरिक्ष में तीव्र गति से फैल गई। उसके आगे कहा है कि यह अश्वाग्नि रश्मि रूप में थी और प्रकृति के परमाणुओं पर यह लगाम की भांति आरूढ़ हो गई। अश्वाग्नि की लगाम ने परमाणु के भीतर छुपकर बैठे इन्द्र को प्रकट कर दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्र त्रिगुणात्मक शक्ति है। इसके तीन गुण हैं—रजस्, तमस् और सत्व। जब इन्द्र परमाणु से बाहर हुआ तो ये तीन प्रकार की शक्तियां पड़ोस के परमाणुओं पर आकर्षण और विकर्षण करने लगीं।

तदनन्तर कहा गया है कि उस आकर्षण-विकर्षण से परमाणुओं में निबन्धन अर्थात् संयोग बनने लगा। फिर कहा गया है कि यह संयोग तीन प्रकार का है। ये आपः कहे जाते हैं। इन आपः से परमात्मा का ज्ञान वेद प्रसारित होने लगता है और तब जगत् की रचना होती है।

जिनका उपनिषद्कार ने वर्णन किया है ये वे आपः हैं। उसका कहना है कि आपः को अपनी अनादि अग्नि से तपाया और इन आपः के तपने से मूर्ति बनी।

इसका अभिप्राय यह है कि आपः के तपने के पहले मूर्ति अर्थात् व्यक्त पदार्थ नहीं था। आपः भी व्यक्त पदार्थ नहीं थे। वे अव्यक्त ही थे।

अव्यक्त से वेद का अभिप्राय है वे पदार्थ जो इन्द्रियगोचर नहीं हैं। अर्थात् जो इन्द्रियों से देखे नहीं जा सकते, सुने नहीं जा सकते। सूंघे नहीं जा सकते।

साम्यावस्था में प्रकृति स्वयं भी अव्यक्त ही है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा इसको जाना नहीं जा सकता। ऊपर अंकित वेदमन्त्रों में लिखा है कि परमात्मा की शक्ति परमाणुओं को भंग करती है। और परमाणु असाम्यावस्था में हो जाते हैं। इन असाम्यावस्था के परमाणुओं से ही ये आपः निबन्धन बनते हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकृति असाम्यावस्था में और प्रकृति साम्यावस्था में और आपः ये तीनों अव्यक्त होते हैं। जब आपःको परमात्मा तपाता है तो मूर्त अर्थात् व्यक्त पदार्थ बनता है। यह मूर्तरूप क्या है इसको उपनिषद्कार स्पष्ट नहीं कर पाया। किन्तु वेद में इसका वर्णन किया गया है।

हमने बताया था कि आपः परमाणुओं के निबन्धन तीन प्रकार के होते हैं। ऋग्वेद १-१३६—में बताया है कि प्रकृति के परमाणुओं के ये निबन्धन 'मित्र, वरुण और अर्यमा' कहाते हैं। और ऋग्वेद १-३२ में वर्णन किया है कि ये तीनों आपः परस्पर संघर्ष करते हुए शरीर बनाने में सफल हो जाते हैं। इस शरीर के किनारे (काष्ठा) पर मित्र विभिन्न रज्जु मार्गों पर गति में घूमने लगते हैं। शरीर के मध्य में वरुण के जमघट के नीचे अर्यमा ऐसे फंस जाते हैं जैसे किसी बाड़े में गौएं।

इसके विस्तृत वर्णन के लिए हमारी पुस्तक 'साइंस और वेद' अथवा 'वेदों में सोम' देखिये।

यह शरीर वर्तमान विज्ञान में ऐटम कहा जाता है। उपनिषद्कार का अभिप्राय यह है कि ऐटम वह छोटी-से-छोटी वस्तु है जो व्यक्त है। इससे जितने भी छोटे कण हैं वे सब अव्यक्त हैं। उपनिषद का मूर्ति से अभिप्राय यह है कि तपे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए आपः वर्तमान विज्ञान के एटम बना देते हैं।

तदेनत्सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। यद्धैनद्वाचा ग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

अर्थ—उस रचे गये अन्न ने, उनकी ओर से मुख मोड़कर भागना चाहा। तब उस देवता-दल ने उसे वाणी से पकड़ना चाहा। किन्तु वह देव-दल उसे वाणी से ग्रहण नहीं कर सका। यदि इसे वाणी से ग्रहण कर लेता तो अन्न को पाकर तृप्त हो जाता।

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्रणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राप्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर उसने इसे प्राण से ग्रहण करना चाहा किन्तु इसे प्राण से ग्रहण करने में समर्थ न हुआ। यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता तो प्राणक्रिया करके तृप्त हो जाता।

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

अर्थ—उस, देव-दल, ने इसे नेत्र से ग्रहण करना चाहा किन्तु कर नहीं सका। यदि कर सकता तो केवल अन्न को देखने मात्र से तृप्त हो जाता।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यनच्चैच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

अर्थ—उसने उसे श्रोत से ग्रहण करना चाहा किन्तु उससे भी ग्रहण नहीं कर सका। यदि वह श्रोत्र से ग्रहण कर लेता तो सुनकर ही तृप्त हो जाता।

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पष्टवा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—उसने इसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा, वह त्वचा से ग्रहण नहीं कर सका। यदि वह इसे त्वचा से ग्रहण कर लेता तो अन्न को स्पर्श कर ही तृप्त हो जाता।

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

अर्थ—उसने इसे मन से ग्रहण करना चाहा, वह मन से ग्रहण नहीं कर सका। यदि मन से ग्रहण कर लेता तो अन्न का ध्यान करते ही तृप्त हो जाता।

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

अर्थ—तब उसने अन्न को शिश्न से ग्रहण करना चाहा, परन्तु उससे भी नहीं कर सका। यदि वह शिश्न से ग्रहण करने में सफल हो जाता तो अन्न का त्याग कर ही वह तृप्त हो जाता।

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नयुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

अर्थ—तब उसने इसे अपान वायु (अपान वह वायु है जिससे भोजन भीतर जाता है) से ग्रहण करना चाहा तो उससे वह ग्रहण कर सका। अतः अपानवायु अन्नका ग्रहण करने वाला है। देव-दल में अपान-वायु से शरीर में अन्न ग्रहण करता है।

स ईक्षत कथंन्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—उसने विचार किया कि यह शरीर मेरे बिना किस प्रकार रहेगा ? वह सोचने लगा कि किस मार्ग से इसमें प्रवेश किया जाये ? उसने विचार किया कि यदि वाणी बोलने लगे, यदि प्राण प्रणन करने लगे, यदि आंखें देखने लगें, कान सुनने लगें, त्वचा स्पर्श करने लगे, मन चिन्तन करने लगे, अपान भक्षण करने लगे, और शिश्न विसर्जन करने लगे तो फिर मैं क्या हूं ?

उपनिषद्कार कह रहा है कि परमात्मा विचार करने लगा कि यदि यह पिण्ड मेरे बिना ही सब कार्य करने लगा तो फिर मेरा कोई प्रयोजन ही नहीं रहा ? उपनिषद्कार के कहने का अभिप्राय यह है कि यह असम्भव है।

यहां जो कुछ भी उपनिषद्कार ने कहा है, उसके कहने की रीति बड़ी ही अभद्र है।

पूर्व खण्ड की भांति इस खण्ड में भी जगत् के शब्दों में ही उपनिषद्कार ने अपना कथन आरम्भ किया है। कहा गया है कि लोक बन गये। लोकपाल बन गये इत्यादि। फिर आगे चलकर एक प्राणी का वर्णन आरम्भ कर दिया।

हमने पहले ही यह बताया है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड की विवेचना तो एक-समान है। परन्तु भाषा और पारिभाषिक शब्द भिन्न हैं। जगत् की व्याख्या में नाक, कान, आंखें इत्यादि शब्द अर्थहीन हैं।

तदपि यह उपनिषद्कार की वर्णन करने की शैली है। इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती।

इन सब मन्त्रों में विचारणीय बात यह है कि चखने, देखने, सुनने इत्यादि की शक्ति परमात्मा के बिना कैसे आ गई, जो इनके आने पर और भोजन के भीतर ग्रहण किये जाने के उपरान्त परमात्मा को चिन्ता लग गई कि यदि ये सब कार्य उसके बिना ही सम्पन्न होने लगे तो फिर इस प्राणी में उसका अस्तित्व ही क्या है ? अर्थात् उसके बिना ये सारे कार्य असम्भव हैं। हमारा भी यही प्रश्न है कि यह सामर्थ्य प्राणी में कहां से आया ?

स एतेमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत ।
सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ।
तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः,
अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—वह इस सीमा को ही विदर्ण कर उसमें से प्रविष्ट हो गया। यह द्वार 'विदृति' नाम वाला है। यह नान्दन अर्थात् आनन्द देने वाला है। उसके तीन रहने के और स्वप्न के स्थान हैं।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् इदमदर्शमिती ॥ १३ ॥

अर्थ—उत्पन्न हुए उस प्राणी को परमेश्वर दे देखा। ग्रहण किया। उसने इस पुरुष को ब्रह्मरूप में देखा। उसने ऐसा ही देखा।

यह कहा गया है कि जब परमात्मा ने पिण्ड बना दिया, उसमें भोजन के प्रवेश का भी प्रबन्ध कर दिया, तब उसने विचार किया कि यह पिण्ड उसके बिना कार्य नहीं कर सकेगा। इस कारण उसने उसको अपना सहयोग प्रदान करना उचित समझा।

यदि इतनी ही बात होती तो उपयुक्त थी। किन्तु उपनिषद्कार का कहना है कि यदि यह शरीर बिना उसकी सहायता के कार्य करने लगा तो उसका क्या होगा? जैसाकि हम पहले ही कह आये हैं कि उपनिषद्कार की यह भाषा बहुत ही अभद्र है। जब रचना नहीं थी, तब भी तो परमात्मा था। तब उसका क्या होता था?

जो कुछ तब होता था, अब भी वही हो सकता था। वास्तव में तो परमात्मा में प्राणी के निर्माण से पूर्व अथवा पश्चात् की अवस्था में किसी प्रकार कार्य का अन्तर पड़ता नहीं। वह तो वेद के कथनानुसार—सदा—'अन्य अभिचाकशीति' (ऋ० वे० १-१६४-२०) अर्थात् वह साक्षी रूप में देखता रहता है।

इस लिये प्राणी को बिना उसकी सहायता के कार्य करते हुए देखकर परमात्मा को किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये थी।

उसके बाद उपनिषद् में कहा गया है कि उस प्राणी में परमात्मा सीमा को वेधकर उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया। तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उससे पूर्व वह प्राणी के शरीर में नहीं था, जो सीमा को वेधकर उसमें प्रविष्ट हो गया?

यदि हम उपनिषद्कार की बात मान लें कि वह शरीर में प्रविष्ट हो गया तो फिर उसकी सर्वव्यापकता का अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है। यह तो सब वेद-विरुद्ध होगा। वेद में तो कहा है—'स पर्यगात्,' अर्थात् वह सब स्थान पर पहले ही पहुंचा हुआ है। (यजु० ४०-८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद्कार का यह कथन कि स्वयं को प्राणी में उपयोगी न पाकर उसने उसके शरीर में प्रवेश किया, नितान्त वेद-विरुद्ध होने से अग्राह्य है।

प्रस्तुत उपनिषद् में प्रारम्भ से ही कुछ इस प्रकार की बातें कही गई हैं जो न तो लोकानुसार उपयुक्त हैं और न वेदानुसार ही हैं। अन्य वैदिक शास्त्रों में भी यह बात कही गई है कि परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वत्र और सर्वदा ही उपस्थित रहता है।

महाभारत के ब्रह्म और रुद्र के संवाद से हम यहां पर एक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्मा द्वारा पूछा गया था कि जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है?

अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ।
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः॥
ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्॥

म० भा० शा० पर्व ३५१-३, ४॥। गीता प्रेस।

अर्थ—यह शरीरों से रहित है तथापि समस्त शरीरों में विद्यमान है। परन्तु शरीर में रहते हुए भी उनके कर्म में लिप्त नहीं होता।

वह मेरे, तुम्हारे और दूसरे देहधारियों में, सब में साक्षीरूप होकर रहता है। परन्तु किसी को दिखाई नहीं देता।

इसी प्रसंग में आगे चलकर ब्रह्माजी कहते हैं—

एवं ही परमात्मानं केचिदिच्छन्ति पण्डिताः।
एकात्मानं तथाऽऽत्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः॥
तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।
कर्मात्मा त्वपरः या समो क्षिबन्धैः स युज्यते॥

॥ म० भा०श० पर्व ३५१-१३, १४, १५। गी० प्रे०॥

अर्थ—इस प्रकार कुछ विद्वान् अपने से भिन्न परमात्मा को पाना चाहते हैं। कुछ अपने से ऊपर, समीप, आत्मा है उसको पाना चाहते हैं।

इनमें जो परमात्मा है वह तो नित्य निर्गुण माना गया है। वह ही नारायण नाम से जानने योग्य है। वह ही सबमें व्यापक आत्मा है। वह पुरुष कहाता है।

इनमें जो परमात्मा है वह सर्वथा अलिप्त रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी में होने पर भी पानी से अलिप्त रहता है। परमात्मा कर्मफलों से अलिप्त रहता है, परन्तु जो कर्मों का कर्ता है, वह मोक्ष अथवा बन्धन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जुड़ा रहता है।

इस प्रकार सब मान्य शास्त्रों में परमात्मा को सर्वत्र, सदा, सर्वव्यापक माना है और जीवात्मा परमात्मा से पृथक् कर्मफल का भोक्ता माना है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि यह उपनिषद्, वेद और शास्त्र के विरुद्ध ही कुछ कह रहा है। स्वामी शंकराचार्य इसको मान्य सिद्धान्त मानते हैं। वह समझते हैं कि सब उपनिषदों में ऐसा ही वर्णन है जैसाकि इस उपनिषद् में किया गया है। किन्तु हमारा मत इससे भिन्न है। हम यह भी मानते है कि अन्य उपनिषदों में इसकी पुष्टि नहीं पाई जाती, वे इससे भिन्न हैं।

कुछ भाष्यकार ऐसा भी समझते हैं कि इस मन्त्र में जीवात्मा का विरोध नहीं है। किन्तु उसको स्पष्ट नहीं किया गया है।

हम तो इस पूर्ण कथन को ही अवैज्ञानिक मानते हैं।

तस्मादिन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम।
तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण।
परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ १४॥

अर्थ—इसलिए इसका नाम इदन्द्र है। यह इदन्द्र नाम से ही प्रसिद्ध है। इदन्द्र को ही परोक्ष रूप में इन्द्र कहा जाता है। देवगण परोक्षप्रिय होते हैं।

यह इदिन्द्र कौन है? उपनिषद्कार ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। उसने यह भी नहीं बताया कि इसके अतिरिक्त भी कोई अन्य है। उसने लिखा है कि उसने आपः को लक्ष्य रखकर तपस्या की। हमने कहा है कि यह परमात्मा है। परमात्मा के यत्न से आपः से मूर्ति बन गई। अभिप्राय यह है कि व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर जगत् बन गया। इस जगत् का बनाने वाला परमात्मा ही माना जाता है।

तदनन्तर इसी ने इच्छा की कि उससे रचित जगत् की भूख-प्यास के लिए अन्न बनाया जाये। हम समझते हैं कि उपनिषद्कार कह रहा है कि गतिशील जगत् के लिए उसमें गति से उत्पन्न होने वाली टूट-फूट की पूर्ति के लिए कुछ चाहिए। यही अन्न होता है। अतः यह अन्न बनाने वाला वही था जिसने आपः को तपाया था और जिससे व्यक्त जगत् बना था। यह परमात्मा ही था।

इसके उपरान्त उपनिषद्कार ने बताया है कि इस अन्न का उपभोग प्राणी के अंग नहीं कर सकते। अन्न का भोग अपान वायु ही कर सकती है। अपान वायु वह शक्ति है जो अन्न को गले से गुदा तक ले जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर क्रिया विज्ञान वाले यह कहते हैं कि अपानवायु को भूख नहीं लगती। इस कारण यह अन्न भी अपानवायु को नहीं दिया जाता। वरन् भूख शरीर को लगती है और यह अन्न भी शरीर के अंग-प्रत्यंग के लिए है। एक बात और भी है। वह यह कि शरीर के अंग-प्रत्यंग जो भोजन करते हैं वे शरीर के देवताओं के अतिरिक्त भी हैं। शरीर के देवता हैं दस इन्द्रियां, मन और बुद्धि। यह ठीक है कि अन्न का फल इन देवताओं को भी मिलता है। परन्तु इन देवताओं के अतिरिक्त अंगों को उसका फल मिलता है।

उपनिषद्कार ने कहा है कि उसने विचार किया कि मेरे बिना यह कार्य करेगा तो फिर मेरी क्या उपयोगिता ? उपनिषद्कार कदाचित् यह कहना चाहता है कि वह प्राणी अन्न बनाने वाले के बिना कार्य नहीं कर सकेगा। इस पर भी उपनिषद्-कार के कहने का ढंग उचित नहीं है। यदि इस बात को छोड़ भी दिया जाये तब भी प्रश्न तो वही है कि जिसने आपः को तपाया था और उससे मूर्त्त जगत् बना था, यदि वही है तो स्पष्ट है कि यह परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं।

परन्तु इसी उपनिषद् के एक भाष्यकार प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार मन्त्र संख्या ११ के भाष्य में कहते हैं कि रचयिता ने लोक रचे, लोकफल रचे, पुरुष रचा, अन्न रचा। रचयिता का ईक्षण हो चुका। अब जीवात्मा की बारी आई। उसने ईक्षण किया, मेरे बिना पुरुष का यह भौतिक देह कैसे रहेगा, अब वह सोचने लगा मैं इस शरीर में कैसे जाऊं···इत्यादि।

मन्त्र १-३-११ इस प्रकार आरम्भ होता है—"**स ईक्षत कथंन्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति।···**"

यहां पर 'स' तो उसी के लिए आया है जिसने अन्न बनाया था अथवा जिसने आपः को तपाया। हम समझते हैं कि यह प्रोफेसर सत्यव्रत जी की कल्पना मात्र है। यहां 'स' उसी के लिए है कि जो लोक और परलोक को रचता है। अथवा जो आपः तपाता है अथवा जो अन्न खाता है।

वेद जीवात्मा के अस्तित्व को परमात्मा से पृथक् मानता है। इसी कारण हमने कहा है कि उपनिषद्कार ने कुछ वेद के विरुद्ध कह दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति।
यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः।
सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति।
तद्यदा स्त्रियां सिंचत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥१-१॥

अर्थ—सबसे पहले यह पुरुष शरीर में ही गर्भरूप से रहता है। यह जो प्रसिद्ध, रेतस, वीर्य है यह पुरुष के सम्पूर्ण अंगों के उत्पन्न हुआ सार है। पुरुष इस अपने तेज, वीर्य, को अपने शरीर में ही पालन करता है। जब वह इसे स्त्री के शरीर में सींचता है, तब वह गर्भ स्थापित करता है, यह इसका पहला जन्म है।

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति।
यथा स्वमङ्गं तथा।
तस्मादेनां न हिनस्ति।
सास्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति ॥२॥

अर्थ—वह वीर्य स्त्री के आत्मभूत हो जाता है। जैसे उसके अन्य अंग हैं, वैसे। अतः यह उसे पीड़ा नहीं पहुंचाता। अपने भीतर गये का वह पोषण करती है।

इस मन्त्र में भाषा पुनः बड़ी शिथिल है। कहा है—सा अस्य एतम् आत्मानं अत्र गतं…। 'एतं आत्मानं' के अर्थ कई भाष्यकारों ने इस प्रकार किया है—अपने गये उस, पति, के। इस आत्मा का यह पालन करती है। अर्थात् यह विकृति भाषा के शिथिल होने से ही है।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भंबिभर्ति।
सोऽग्र एव कुमारं जन्मानोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं
जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानेव तद्भावयत्येषां लोकानां
सन्तत्या। एव सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—वह स्त्री, गर्भ के पालने वाली, अपने सम्बन्धियों से पालने योग्य है। उस गर्भ को स्त्री पालती है, जन्म से पहले। तत्पश्चात्, पिता पालन करता है। वह स्त्री जो जन्म के पूर्व और पश्चात् भी पालन करती है अपने आत्मा का ही वह पालन करती है। इसी प्रकार लोकों को सन्तान से पालता है। इस प्रकार ही ये लोक बढ़े हैं। यह, मां के पेट से बाहर आना, इसका दूसरा जन्म है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते।
अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति।
स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

अर्थ—वह उसका यह आत्मा, पुत्र, पिता के पुण्यकर्मों का प्रातिनिध्य करता है। तब उसका यह दूसरा आत्मा, पुत्र, अपने कर्तव्यों का पालन कर आयु, वृद्धावस्था, को प्राप्त होता है। और शरीर छोड़ देता है। वह शरीर छोड़ पुनः जन्म लेता है, यह इसका तीसरा जन्म है।

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीरपक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

अर्थ—ऐसा ऋषि, वामदेव, ने कहा है। उसने कहा है, गर्भ में रहते हुए इन देवताओं को सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। मुझे सैकड़ों लौह समान सुदृढ़ शरीरों ने ऐसे घेरे रखा था जैसे दुर्ग घेरते हैं। जब मैं पक्षी की भांति बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र हो निकल गया हूं। वामदेव कहता है कि गर्भ में ही वह यह सब जान गया था।

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत ॥ ६ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—वह विद्वान् इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों की बात जानता हुआ ऊपर उठता है, स्वर्ग को जाता है, अपने सब मनोरथों को प्राप्त कर अमर हो जाता है।

इन मन्त्रों में उपनिषद्कार ने बार-बार जन्म लेने की बात कही है।

इस खण्ड में उपनिषद्कार का वक्तव्य विशुद्ध भावनात्मक है। यह कथन वैज्ञानिक नहीं। इतना तो ठीक है कि आयुर्वेद के अनुसार पुरुष का वीर्य उसके छहों अंगों का सार होता है। यह माना जाता है कि रस से रक्त बनता है। रक्त से मांस बनता है। मांस से मेद बनता है। मेद से अस्थि और अस्थि से मज्जा। मज्जा से वीर्य। परन्तु आधुनिक विज्ञान इस प्रकार नहीं मानता।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार रक्तकण मज्जा में बनते हैं। वीर्य सीधे रक्त से अण्डकोषों में जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वीर्य में बीज कोषाणु अण्डकोषों के मांस में बनते हैं। इसी प्रकार डिम्ब स्त्री की डिम्ब ग्रन्थि के मांस में बनती है।

विज्ञान सम्बन्धी इस भेद के अतिरिक्त आत्मा शब्द पुत्र के लिए कहा है। यहां आत्मा का अर्थ स्वयं के लिए है अथवा कि जीवात्मा के लिए, कुछ कहा नहीं जा सकता। दोनों ही प्रकार से आत्मा का प्रयोग अशुद्ध है। इसी को भाषा का ढीलापन कहा है।

हमारा तो यह कहना है कि भाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसके ठीक वही अर्थ निकल सकें जो लेखक का अभिमत हो।

इतनी बात और ठीक है कि गर्भ बन जाने के उपरान्त स्त्री उसकी ऐसे पालना करती है जैसे वह अपने शरीर के अंगों का करती है। जैसे उसका रक्त उसके विभिन्न अंगों का पालन करता है, वैसे ही वह निर्माणाधीन बालक के अंगों का भी पालन करता है।

पिता तो कुमार का पालन उसके जन्म के उपरान्त करता है। उससे पूर्व नहीं। परन्तु उपनिषद्कार के अनुसार पहले, दूसरे और तीसरे जन्म की बात केवल आलंकारिक है। वास्तविक जन्म तो उस समय होता है जब भ्रूण में जीवात्मा का प्रवेश होता है। विज्ञान इस विषय में कुछ नहीं जानता। परन्तु सांख्य और धर्मशास्त्रों के कथन से यही विदित होता है कि जीवात्मा के शरीर में आने से पूर्व भ्रूण बनता है। पहले माता और पिता के अपने बल के संवेग से। यह समझा जाता है कि जीवात्मा तबतक शरीर में नहीं आता जबतक निर्माणाधीन शरीर में उसके लिए उचित स्थान नहीं बन जाता। सम्भवतया यह गर्भस्थिति के चालीस दिन बाद बन जाता है। हम इसको ही ठीक मानते हैं। जबतक इसमें जीवात्मा का प्रवेश नहीं होता तब तक यह भ्रूण कहलाता है। चालीस दिन में भ्रूण में सिर बन जाता है और इसमें वह गुहा बन जाती है जिसको जीवात्मा का निवासस्थान कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद्कार ने अपने कथन की साक्षी वामदेव का नाम लेकर दी है। हम इसका अभिप्राय यह समझे हैं कि उपनिषद्कार को अपने कथन का स्वयं विश्वास नहीं है। इसीलिए उसने वामदेव को साक्षी के रूप में उपस्थित किया है। परन्तु उसके कथन में जो संदिग्ध अंश है उसमें वामदेव की साक्षी किसी भी प्रकार से सहायक नहीं होती।

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥३-१॥

अर्थ—हम जिसकी उपासना करते हैं, वह आत्मा कौन है? जिससे प्राणी देखता, सुनता, गन्ध को सूंघता, वाणी का विश्लेषण, क्या कहना अथवा क्या नहीं कहना, करता है, जिससे स्वादु-आस्वादु का विश्लेषण करता है, यह आत्मा कौन है?
यहां आत्मा से उपनिषदकार का अभिप्राय सत्व अर्थात् सामर्थ्यवान् से है।

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—यह जो हृदय है वही मन है। संज्ञान, किसी का ज्ञान होना अर्थात् चेतना; अज्ञान, जड़ता; विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान; प्रज्ञान, जानी बात का विश्लेषण; मेधा—जानी बात से परिणाम निकालने की कला; दृष्टि, किसी विषय में मत बनाना; मनीषा, विचारित संकल्प; जूतिः, शरीर में अबाध गतियां; स्मृति, स्मरण शक्ति; संकल्प, क्रतु कर्मवान; असुः, होना-जीना; काम, कामनाएं; वश, नियन्त्रण; ये सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम प्रज्ञान नाम के पदार्थ हैं।

इस मन्त्र में एक बात में भ्रम प्रतीत होता है। कदाचित् वह भ्रम उपनिषद्-कार के मन में ही है। जितने भी कार्य इस मन्त्र में बताये गये हैं इनके दो रूप हैं। एक है कार्य करने की सामर्थ्य और दूसरा है कार्य को दिशा देना।

इसे हम उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहते हैं। पहले ही शब्द को लिया जाये। शब्द है 'संज्ञान'। हमने इसका अर्थ किया है 'किसी का ज्ञान होना।' दूसरे शब्दों में इसको चेतना कहते हैं। चेतना का सामर्थ्य एक बात है और चेतना अनुभव करना सर्वथा दूसरी बात है। किसी के सम्मुख बर्फ की डली रखी है, वह ठण्डी है। कोई उसकी ठण्डक को अनुभव करने वाला है, वह उसे चाहे छुए अथवा न छुए। और जब छुयेगा तो स्वाभाविक ही उसकी ठण्डक अनुभव करेगा। उस डली को छूना अथवा न छूना एक का काम हैं परन्तु इसकी ठण्डक को अनुभव करना अथवा न करना और उसके लिए यत्न करना किसी अन्य का काम है।

इसी प्रकार किसी पुष्प की सुगन्धि को लिया जाये। सुगन्धि का अनुभव करना एक बात है और फूल लाकर सूंघना दूसरी बात है।

इस प्रकार हम कह रहे हैं कि उपनिषद्कार ने इन्द्रियों तथा मन बुद्धि के सामर्थ्य का उल्लेख तो कर दिया है परन्तु उस सामर्थ्य के प्रयोग करने वाले का कोई वर्णन नहीं किया।

संक्षेप में, इन सबके भीतर कार्य करने वाला सामर्थ्य प्राण कहाता है। यह सामर्थ्य परमात्मा का दिया हुआ है। इस देने का, ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

१. दहर उत्तरेभ्यः ॥

२. गति शब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंगं च ॥

३. धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥

४. प्रसिद्धेश्च ॥

५. इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंम्भवात् ॥

॥ब्रह्मसूत्र १-३-१४, १५, १६, १७, १८॥

इन सूत्रों का अर्थ है—आगे दहर में बैठे के लिए कहा गया है। दहर का अर्थ है मस्तिष्क में बहुत छोटा-सा स्थान, जिसे गुहा भी कहा जाता है।

शरीर में गतियों से ही उस परमात्मा का, जो दहर में है, दर्शन होता है।

दहर में रहते हुए परमात्मा का महान् कार्य शरीर की गतियों का संचालन करना है।

यह प्रसिद्ध है कि यह प्राण है अभिप्राय यह कि परमात्मा की शक्ति प्राण है।

शरीर में कार्य अर्थात् गतियां दूसरे की प्रेरणा से होती हैं।

यही हमने ऊपर कहा है कि शक्ति तो परमात्मा की है परन्तु इस शक्ति से कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाला कोई अन्य है।

उपनिषद्कार को स्वयं भी भ्रम है। उदाहरण के रूप में प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इसी मन्त्र का अर्थ लिखते हुए कहते हैं कि यह वर्णन जीवात्मा का है। यह अशुद्ध है। यह जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह परमात्मा की शक्ति का ही वर्णन है जो प्राणी के शरीर में कार्य कर रही है।

हम समझते हैं कि प्रस्तुत उपनिषद्कार में वह सूक्ष्म बुद्धि नहीं है जो कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता में थी।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंच महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह ।। ३ ।।

अर्थ—यह जो ऊपर के मन्त्र में प्रज्ञान नाम वाला कहा है, वही ब्रह्म है। यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, ये सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज पंचभूत यही है। सब क्षुद्र जीवों सहित उनके बीज और अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौ, मनुष्य एवं हाथी। तथा जो कुछ भी यह जंगम, पतत्रि, पंखों से उड़ने वाले और स्थावर रूप प्राणीवर्ग है, वह सब प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही स्थित है। लोक प्रज्ञानेत्र है। प्रज्ञा ही उसका लय स्थान है। अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

इस उपनिषद् पर भाष्य लिखते हुए हम आरम्भ से ही कह रहे हैं कि इस उपनिषद्कार का कथन वेद-विरुद्ध है। हम इसे उपनिषद्कार की अनाधिकार चेष्टा तो नहीं मानते क्योंकि मनुष्य में बुद्धि है और उसके उपयोग का उसे पूर्ण अधिकार है।

भाष्य करते हुए हम अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि इस उपनिषद् के अर्थ जैसे समझते हैं, वैसे पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दें। यदि हम उनको अशुद्ध समझते हैं तो क्यों समझते हैं, यह बताना भी हमारा कर्तव्य है।

विस्मय तो इस बात पर होता है कि कुछेक भाष्यकार अपने मत का अर्थ पनिषद् में से ही निकालते हैं। हमने एक ऐसा उदाहरण प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्ता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लंकार का दिया है। उसमें हमने बताया है कि उनका कथन है कि उपनिषद्कार ने जीवात्मा का वर्णन किया है। प्रोफेसर साहब का यह कथन अशुद्ध था। वह इस मन्त्र से स्पष्ट हो गया है।

उपनिषद्कार ने द्वितीय अध्याय के मन्त्रों में गर्भ में बच्चे के बनने के विषय में लिखते हुए कहा है कि स्त्री के गर्भ ठहरता है तो वह उसका पालन करती है। जन्म के उपरान्त पिता भी बच्चे का पालन करता है। इस सब कथन में यह नहीं बताया गया है कि कोई जीवात्मा नाम की वस्तु गर्भ में प्रविष्ट होती है और वह उसका रस भोगती है।

तदनन्तर तीसरे अध्याय में यह बताया है कि वह आत्मा, जिसे उसने पिता का ही अंश कहा है, उसके विषय में पूछ रहा है कि वह आत्मा कौन है ? इस प्रश्न का ही उत्तर वह प्रस्तुत मन्त्र में देता है कि वह प्रज्ञान आत्मा जिसे पिता ने स्त्री के गर्भ में डाला था, वह ही बह्म है। वह ही इन्द्र है, वह ही प्रजापति है, वह ही सब कुछ—जंगम, वायु में उड़ने वाले तथा पृथिवी पर बसी हुई सृष्टि है।

अर्थात् उपनिषद्कार मानता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जिसको उसने प्रज्ञानात्मा कहा था, वह भी ब्रह्म ही है।

यदि यहां एक अन्य उपनिषद्कार की बात कह दें तो परस्पर भली भांति तुलना हो जायेगी। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥

॥श्वेता० १-९॥

अर्थ—एक ज्ञानवान्, सामर्थ्यवान् और दूसरा अज्ञानी तथा हीन सामर्थ्य वाला दो अजन्मा हैं। तीसरा भी एक अन्य अजन्मा है। वह अज्ञ के भोग के लिए सामग्री एकत्रित करता है। अनन्त आत्मा विश्व के पदार्थों को रचने वाला है, इन तीनों को ब्रह्म जानो।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ऐतरेय उपनिषद्कार भी तीन को ब्रह्म मानता है ? क्या वह मानता है कि एक अजन्मा तो ज्ञानवान् और सामर्थ्यवान है और वह सृष्टि के पदार्थों के रूपों को बनाता है और दूसरा अजन्मा, जो अज्ञ और सामर्थ्य-हीन है, वह प्रकृति के बने रूपों का भोग करता है।

हम यह समझे हैं कि ऐतरेय उपनिषद् का रचयिता यह सब नहीं मानता। वह यह मानता है कि पृथिवी, जल इत्यादि भी वही ब्रह्म है जो मनुष्य, हाथी, घोड़ा है। वह शरीर और शरीर के सामर्थ्य में भी अन्तर नहीं मानता। सब कुछ एक ही मानता है।

उपनिषद्कार सबकुछ एक ब्रह्म मानकर आगे कहता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ४ ॥

अर्थ—वह प्रज्ञानात्मा है। इस प्रज्ञानात्मा के रूप से ही लोक है। जन्म-मरण के संसार से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोक में सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया।

पूर्ण उपनिषद् को पढ़ जाने के उपरान्त मन संशयों से भर जाता है। जो कुछ कहा गया है, उसमें छिद्र रह गये हैं। उनके विषय में कुछ नहीं कहा गया। अथवा यदि कुछ कहा भी गया है तो समझ में आने योग्य नहीं है।

उपनिषद् को पढ़ने के उपरान्त यही प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वह एक पहाड़, एक पेड़, एक कबूतर, गाय और सिंह तथा मनुष्य, हाथी और हिरण सब एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप हैं। सिंह यदि हिरण को खाता है तो ब्रह्म ब्रह्म को ही खाता है क्या ?

कोई पथिक यदि पर्वत पर भ्रमण करने के लिए जाता है तो क्या ब्रह्म ही ब्रह्म को पैरों से रोंदता हुआ चला जाता है ?

तदनन्तर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक चोर, ठग और प्रत्येक प्रकार के कुकर्म करने वाला है और दूसरा सदा सबके कल्याण की इच्छा करता हुआ, सबकी सेवा और सहायता करता रहता है। तो क्या सब एक ही तत्व के रूप हैं ? यदि हैं तो ऐसा क्यों ?

यदि एक ही के सब भिन्न-भिन्न रूप हैं तो बहुत बड़ा प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों है, एक जेब कतर रहा है दूसरे की। जिसकी जेब कतरी गई उसको दुःख और कष्ट होता है। जिसने जेब को कतरा है वह उस धन से सुख-लाभ करता है।

उपनिषद्कार ने इस विषय में किसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत नहीं किया।

यह तो उपनिषद्कार ने कहा है कि यह तत्व उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ इन्द्रियरहित हो जाता है। प्रश्न यह है कि कौन है जो जड़ अवस्था से उन्नति करता हुआ अमरलोक में जा पहुंचता है।

उपनिषद्कार ने यह तो कहा है कि वह ब्रह्म है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्म ही जड़ से चेतन हो जाता है और चेतन होकर कीट-पतंगादि की अति हीन अवस्था से उत्क्रमण करता हुआ वामदेव की-सी मुक्तावस्था में पहुंच जाता है। यह सब तो ठीक है, परन्तु प्रश्न तो वैसा-का-वैसा ही रह जाता है कि ब्रह्म को क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वह जड़ अवस्था में होवे और किसलिये वह कीट पतंगादि योनियों के कष्ट सहन करता फिरे ?

इससे एक ही बात समझ में आती है कि ब्रह्म तो कोई ऐसा तत्त्व है जो जड़ भी है जीव भी है और फिर परमात्मा की भांति शक्तिमान भी है। ठीक वैसे ही जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बर्फ पिघलकर जल बन जाती है और जल गरम करने से वाष्प बन जाता है।

यह तुलना भी ठीक नहीं बैठती। कारण यह कि बर्फ को पिघलाने वाला और जल को गरम करने वाला कोई बर्फ और जल से पृथक् है। वह बर्फ तथा जल से अधिक ज्ञानवान् और सामर्थ्यवान् होता है। साथ ही बर्फ को पिघलाने वाले और जल को वाष्प बनाने वाले का कुछ उद्देश्य होता है।

यदि उपनिषद्कार की बात को स्वीकार कर लिया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म स्वेच्छा से जड़ हो जाता है और स्वेच्छा से जीव-जन्तुओं के रूप में उत्पन्न होता है और फिर स्वयं ही मोक्ष पद का आनन्द भोग करता है। पर वह ऐसा क्यों करता है? किस कारण वह इतना मूर्ख बनना स्वीकार करता है कि कीट-पतंग की भांति निकृष्ट और गन्दे जीवन का भोग करे?

हम इसे सर्वथा अशुद्ध और किसी बालक की कल्पना मात्र समझते हैं। वेद भी स्पष्ट कहता है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ऋ० १-१६४-१॥

अर्थ—इस सुन्दर क्षरित होने वाले देह का भोग करने वाला इसका ही भाई इसके बीच में बैठा हुआ, भोग करता है।

एक तीसरा भाई भी है जो इस देह और उसके भोक्ता का पालन करता है और रक्षा करता है। वह यह कार्य अपने सात पुत्रों की सहायता से करता है।

यह प्राणी शरीर का वर्णन किया है। इसकी देह, वह प्रकृति से बनी है जो नित्य क्षरित होती जाती है। उस शरीर के भीतर प्रकृति का एक भाई बैठा है, वह प्रकृति का भोग कर रहा है, इन दोनों भाइयों के अतिरिक्त एक तीसरा भाई है। वह अपने सात पुत्रों अर्थात् प्राणों से उपरि कथित दोनों भाइयों का पालन करता है और उनकी रक्षा करता है।

सात प्राण हैं जो प्राणी के शरीर की रक्षा और उसका संचालन करते हैं। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें तीन भाइयों का उल्लेख है, इसका अभिप्राय यह है कि तीन तत्त्व हैं। वे पिता-पुत्र नहीं अपितु भाई-भाई हैं। अर्थात् तीनों सम-वयस्क हैं। तीनों को अनादि और अक्षर कहते हैं। इनमें से दो तो परस्पर संयुक्त होते हैं, एक-दूसरे का भोग करते हैं और उस भोग करने में रस लेते हैं। तीसरा केवल इन दोनों का पालन और रक्षण करता है।

इस वेद-मन्त्र की तुलना कीजिये श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस मन्त्र से जो हमने ऊपर उद्धृत किया है।

वेद में तीन अन्य मन्त्र हैं, जो उपनिषद् के वाक्य का, जिसकी हमने तर्कहीनता ऊपर बताई है, विकल्प बताते हैं। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ।।
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ।।

।।ऋ० १-१६४-२०, २१, २२।।

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

एक वृक्ष, (वृक्ष उसे कहते हैं जिसे काट-छांट कर कुछ बनाया जा सके, यहां इसका अभिप्राय प्रकृति से है। जिससे प्राणी का शरीर बना है।) पर दो सुन्दर पंखों वाले (पक्षी से अभिप्राय है गतियों वाले) वृक्ष पर बैठे हैं। दोनों सखा हैं और संयुक्त हैं। इन दो में से एक तो इस वृक्ष के फल खाता है किन्तु दूसरा खाता नहीं केवल साक्षी के रूप में देखता है।

जब सुन्दर गति वाला ज्ञान प्राप्त कर अमृत के भाग की तुरन्त इच्छा करने लगता है, तब वह परमात्मा से जो भुवनों-नक्षत्रों का रक्षक है, कहता है कि मुझ बुद्धिमान् को जो परिपक्व ज्ञान से युक्त हो गया है, मोक्षधाम में चारों ओर से प्रवेश दो।

और जो इस संसार में मीठे फलों को खाता हुआ इसमें रहता है, उसी के विषय में कहते हैं कि वह सन्तान उत्पन्न करता है और उस परम पिता को नहीं जान सकता। अर्थात् वह इस संसार में जीवन-मरण के चक्र में फंसा रहता है।

इन वेदमन्त्रों में वर्णन की गई अवस्था को श्वेताश्वतर उपनिषद् का कहने वाला इस प्रकार वर्णन करता है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।।
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ।।

।।श्वेता०उ० १-६, ७।।

अर्थ—इस बहुत बड़े ब्रह्मचक्र में सब जीव हंस समान फंसे हुए भ्रमित हो रहे हैं। एक आत्मा इनसे पृथक् है। वह प्रेरणा ही देता है। जो जीव उससे जुष्ट हो जाता है, प्रीति करने लगता है, वह अमर पद पा जाता है।

ऊपर कहा है जो परब्रह्म, ब्रह्माण्ड, है उसमें तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं। इसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के जानने वाले जो ब्रह्मलीन कहे जाते हैं वे जन्म-मरण से मुक्त होकर विचरते हैं।

ऐसा नहीं कि केवल वेद में ही ऐसा कहा है, परन्तु अनेक उपनिषद्कार भी यही मानते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में तीन अक्षर सदा से हैं और सदा रहेंगे। जो

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संसार के स्वादों के पीछे लगे रहते हैं वे इस महान् चक्र में फंसे हुए भटकते रहते हैं। जो परमात्मा में लीन हो जाते हैं वे जन्म-मरण से मुक्त होकर ब्रह्माण्ड में स्वेच्छा से विचरते हैं।

यह तो उपनिषद्कार के सम्मुख वेदशास्त्र का प्रमाण प्रस्तुत कर हमने यह सिद्ध किया है कि उसका ज्ञान सन्देह से रहित नहीं है।

परन्तु हम इसको पर्याप्त नहीं मानते। शंकराचार्य जैसे लोग तो यह भी कह सकते हैं कि उपनिषद् ज्ञान वेद से उच्च कोटि का है। इस कारण तथा इस कारण भी कि कुछ लोग इस संसार में ऐसे भी हैं कि जो न तो वेद को प्रमाण मानते हैं और न उपनिषदों को ही, उनके लिए हम वेद के सिद्धान्त को तर्क से सिद्ध कर सकते हैं।

ब्रह्मसूत्र में जगत् में तीन अनादि अक्षरों की सिद्धि की है। वहां कहा है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।।ब्र०सू० १-२-१।।

जो सर्वत्र प्रसिद्ध है उसके उपदेश से ब्रह्म की सिद्धि होती है।

सर्वत्र का अभिप्राय है जो सब स्थान पर, जानाबूझा है। वह है यह दृश्य जगत्। हम कहीं भी जायें, यह समक्ष रहता ही है।

यह ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्र ब्रह्म की सिद्धि के लिए लिखा गया है। इस कारण ग्रन्थकार कहता है कि ब्रह्म को जानने का उपाय इस प्रत्यक्ष जगत् को जानना है।

इस जगत् को देखने से क्या पता चलता है? यह सूत्रकार अगले सूत्र में कहता है—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।।ब्र०सू० १-२-२।।

अर्थात् देखे गये गुणों से यह उपस्थित है।

इसका अभिप्राय यह है कि यह जगत् है। इसे हम देखते हैं। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह मिथ्या नहीं है। हम इसे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष पाते हैं। अनुमान से भी सिद्ध किया जा सकता है कि यह है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि इस प्रत्यक्ष को देखकर हम अप्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

सूत्रकार आगे कहता है—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।।

कुछ गुणों का कई स्थान पर अनुपस्थित होने से यह, सब शरीर की भांति का नहीं है।

इसका अभिप्राय यह कि इस प्रत्यक्ष जगत् में हम दो प्रकार के पदार्थ देखते हैं। एक प्रकार के पदार्थों को शरीर कहा जाता है। शरीर का अभिप्राय है शरीरधारी। कुछ ऐसे पदार्थ भी इस सर्वत्र प्रसिद्ध में देखे जाते हैं जिनमें शरीर के गुण नहीं दिखाई देते।

शरीर के गुण क्या हैं? ये एक अन्य दर्शनशास्त्र में भली प्रकार वर्णित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहां कहा है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ।।न्या० १-१-१०।।

न्यायदर्शन में कहा है कि आत्मा जिसके कारण शरीर शरीर कहाता है के अनिवार्य गुण ये हैं। शरीरधारी, इच्छा करता है, द्वेष करता है, प्रयत्न करता है, सुख तथा दुःख अनुभव करता है और ज्ञान अर्थात् चेतना रखता है।

अतः ब्रह्मसूत्र में कहा है कि इस प्रसिद्ध जगत् में ऐसे भी पदार्थ हैं जो शरीर नहीं हैं।

इससे सूत्रकार यह सिद्ध कर रहा है कि कुछ शरीर हैं और कुछ अशरीर हैं। एक दूसरे में वे स्वतः बदल नहीं सकते।

सूत्रकार आगे कहता है—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।।ब्रह्मसूत्र १-२-४।।

अर्थात् शरीर और अशरीर में अन्तर है कर्म करने वाले का। अशरीर कर्म है और शरीर कर्ता है।

सूत्रकार कहता है—

शब्दविशेषात् ।।ब्रह्मसूत्र १-२-५।।

अर्थ—इसी कारण दोनों के लिए विशेष शब्दों का प्रयोग करने से दोनों को पुकारा जाता है। एक को शरीर कहते हैं और दूसरे को अशरीर अर्थात् जड़ कहा जाता है।

इस प्रकार शरीर और शरीरी में अन्तर सिद्ध कर सूत्रकार कहता है—

अत्ता चराचरग्रहणात् ।।ब्र०सू० १-२-९।।

अर्थ—खा रहा है। संचालन कर रहा है चर और अचर दोनों को।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो अचल है वह भी समाप्त हो रहा है। सब जड़ वस्तुयें क्षीण हो रही हैं। इनको कोई क्षीण कर रहा है। इसका यह भी अभिप्राय होता है कि जो क्षीण कर रहा है वह इनका निर्माता भी था।

साथ ही चलायमान जगत् को चलाने वाला भी कोई है। सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि को गति देने वाला भी कोई है।

ब्रह्मसूत्र का रचयिता एक अन्य स्थान पर यह तर्क प्रस्तुत करता है—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।।ब्र०सू० २-२-४।।

अर्थ—उलट धर्म की अवस्था नहीं हो सकती बिना किसी चेतन की अपेक्षा के।

इसका अभिप्राय है कि जो जड़ प्रकृति है वह बिना किसी चेतन के प्रयत्न के अपने धर्म अर्थात् अवस्था को बदल नहीं सकता।

इस कारण इस प्रसंग में, जिसका उल्लेख हो रहा है, सूर्य, चन्द्र इत्यादि चल नहीं सकते, जब तक कि कोई महान् शक्तिशाली चेतन इनको चलाने वाला न हो।

अतः सूत्रकार परिणाम निकालता है कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।।ब्र०सू० १-२-११।।

अर्थ—इस दर्शन, (विचार करने) से हम निश्चय से कहते हैं कि प्राणी की गुहा में दो आत्म-तत्त्व विद्यमान हैं।

इस प्रकार सूत्र तर्क से तीन तत्त्वों की सिद्धि करता है। एक जड़ है जिससे शरीर बनता है; दूसरा आत्म-तत्त्व है जिससे शरीर शरीर कहाता है, अर्थात् उसमें शरीर के गुण आते हैं। और एक अन्य आत्म-तत्व है जिससे सूर्य, चन्द्र, तारागण, नक्षत्र चलाये जा रहे हैं।

इस प्रकार उपनिषद्कार के कथन का हमने प्रमाण से और युक्ति से भी खण्डन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्र एवं प्रमाण

वर्णानुक्रमणिका

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अ		
अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः	(ऐत० १-२-४)	७९
अत्ता चराचरग्रहणात् ॥	(ब्र०सू० १-२-९)	१०३
अथ कबन्धी कात्यायन—	(प्रश्न० १-३)	११
अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते—	(प्रश्न० ५-४)	५४
अथ हैनं कौसल्यश्चाश्व—	(प्रश्न० ३-१)	३१
अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ।	(प्रश्न० २-१)	२२
अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ।—	(प्रश्न ५-१)	५३
अथ हैनं सुकेशो भारद्वाज पप्रच्छ।	(प्रश्न० ६-१)	५८
अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ।	(प्रश्न० ५-१)	४०
अथादित्य उदयन्यप्रतीची—	(प्रश्न० १-६)	१३
अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन—	(प्रश्न० ३-७)	३६
अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण—	(प्रश्न० १-१०)	१७
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः।	(ब्र० सू० १-२-३)	१०२
अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह—	(प्रश्न० १-१४)	२०
अरा इव रथनाभौ कला—	(प्रश्न० ६-६)	६०
अरा इव रथनाभौ प्राणे—	(प्रश्न० २-६)	२७
अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्य—	(महा० भा० शा० प० ३५१-३)	८९
अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य—	(ऋ० १-१६४-१)	४८
अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव	(प्रश्न० १-१३)	२०
अत्रैय देवःस्वप्ने महामानम्—	(प्रश्न० ४-५)	४५
आ		
आत्मन एष प्राणो जायते—	(प्रश्न० ३-३)	३२
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।	(ऐत० १-१-१)	७०
आदित्यो ह वै प्राणो—	(प्रश्न० १-५)	१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदित्यो ह वै बाह्यः—	(प्रश्न० ३-८)	३७
ई		
इच्छाद्वेष प्रयत्न सुखदुःख—	(न्या० १-१-१०)	१०३
इतरपरामर्शात्स इति—	(ब्र० सू० १-३-१८)	३४, ९६
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि	(प्रश्न० २-९)	२९
उ		
उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वम्—	(प्रश्न० ३-१२)	४०
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म—	(श्वेताश्वतर० १-७)	१०१
ऋ		
ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्त रिक्षम् —	(प्रश्न० ५-७)	५७
ए		
एवं हि परमात्मानं केचित्—	(म० भा० शा० प० ३५१-१४)	८९
एष ब्रह्मैष इन्द्रएष प्रजापतिरेते सर्वे—	(ऐत० ३-१-३)	९७
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता—	(प्रश्न० ४-९)	५१
क		
कम्पनात् ।	(ब्र० सू० १-३-३९)	२४
कर्म कर्तृत्यपदेशाच्च ॥	(ब्र० सू० १-२-४)	१०३
कर्मात्मात्वपरः या सौ—	(म० भा० शा० प० ३५१-१५)	८९
कामस्तदग्रे समवर्तताधि	(ऋ० १०-१२९-४)	२७
कोऽयमात्मेति व्यमुपास्महे ।—	(ऐत० ३-१-१)	९५
ग		
गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टम्—	(ब्र० सू० १-३-१५)	३४, ९६
गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि —	(ब्र० सू० १-२-११)	४८, १०४
त		
तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्ना शक्नोत्—	(ऐत० ३-५)	८५
तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्—	(ऐत० ३-९)	८६
तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्—	(ऐत० ३-६)	८५
तत्प्राणे नाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत् प्राणेन—	(ऐत० १-३-४)	८५
तत्वचाजिघृक्षन्नाशक्नोत्—	(ऐत० १-३-७)	८६
तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति ।—	(ऐत० २-१-२)	९२
तदपानेदाजिघृक्षत्तदावयत्—	(ऐत० १-३-१०)	८६
तदुक्तमृषिणा गर्भे नु सन्नन्—	(ऐत० २-१-५)	९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदेनत्सृष्टं पराङ् त्यजिघां सत्तत्—	(ऐत० १-३-३)	८५
तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति	(प्रश्न० १-१५)	२१
तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे—	(१०-१२९-३)	२६
तमभ्यतपत्तस्याभितपृस्य मुखम्—	(ऐत० १-१-४)	७४
तमशनायापिपासे अब्रूताम्—	(ऐतरेय० १-२-५)	८१
तम्मनसाजिघृक्षतन्नाशक्नोत्—	(ऐत० १-३-८)	८६
तस्मादिन्द्रो नामेदिन्द्रो ह वै—	(ऐत० १-३-१४)	९०
तस्मै स होवाच । इहैवान्तः शरीरे—	(प्रश्न० ६-२)	५८
तस्मै स होवाच एतद्वै सत्तकाम—	(प्रश्न० ५-२)	५३
तस्मै स होवाच प्रजाकामो—	(प्रश्न० १-४)	११
तस्मै स होवाचे । यथा गार्ग्य—	(प्रश्न० ४-२)	४२
तस्मै स होवाचाकाशो ह वा—	(प्रश्न० २-२)	२२
तस्मै स होवाचाति प्रश्नान्पृच्छसि—	(प्रश्न० ३-२)	३१
तत्र प्रत्य यैक तानता धयानम् ॥	यो० द० ३-२	५३
ता ऐता देवताः सृष्टा अस्मिन्—	(ऐत० १-२-१)	७६
तान्वरिष्ठ : प्राण उवाच । मा मो—	(प्रश्न० २-३)	२३
तान्ह स ऋषिरुवाच	(प्रश्न० १-२)	१०
तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परम्—	(प्रश्न० ६-७)	६२
ताभ्यो गामानयत्ता अब्रूवन्न—	(ऐत० १-२-२)	७८
ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्—	(ऐत० १-२-३)	७८
तिरश्चीनो विततो रश्मि—	(ऋ० १०-१२९-५)	१३
तिस्रो मात्रा मृत्यमत्य : प्रयुक्ता—	(प्रश्न० ५-६)	५६
तेजो ह वा उदानस्तस्मात्—	(प्रश्न० ३-९)	३८
ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता—	(प्रश्न० ६-८)	६२

द

दहर उत्तेरभ्यः ।	(ब्र० सू० १-३-१४)	९६
देवानामसि वह्नितमः पितृणाम्	(प्रश्न० २-८)	२८
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया—	(ऋ० १-१६४-२०)	४८, १०१

ध

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्—	(ब्र० सू० १-३-१६)	३४, ९६

न

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि-	(ऋ० १०-१२९-२)	२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य	(यो० द० १-४०)	५४
परमेवाक्षरं प्रति पद्यते स यो—	(प्रश्न० ४-१०)	५१
पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे—	(प्रश्न० ३-५)	३५
पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः—	(ऋ० १-९८-२)	१३
पंचपादं पितरं द्वादशाक्कृविम्—	(प्रश्न० १-११)	१७
प्रजा पतिश्चरसि गर्भे त्वमेव	(प्रश्न० २-७)	२८
प्रसिद्धेश्च ।	(ब्र० सू० १-३-१७)	३४, ९६
प्राणस्तथाऽनुगमात् ।	(ब्र० सू० १-३-१४)	३४
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदैव—	(प्रश्न० २-१३)	३०
प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति ।	(प्रश्न० ४-३)	४३
प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदम्	(अथर्व० ११-४-१)	२५
पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो—	(ऐत० २-१-१)	९२
पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा—	(प्रश्न० ४-८)	४९

भ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा	(ऋ० १-८९-८)	८

म

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये—	(म० भा० शा० पर्व ३५१-४)	८९
मासो वै प्रजापतिस्थस्य	(प्रश्न० १-१२)	१९

य

य एवं विद्वान्प्राणं वेद—	(प्रश्न० ३-१०)	३९
यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति—	(प्रश्न० ३-१०)	३९
यथा सम्राडेवाधिकृतान्—	(प्रश्न ३-४)	३४
यदा त्वमभिवर्णस्यथेमाः प्राण—	(प्रश्न० २-१०)	२९
यदुच्छ्वासनिः श्वासावेतावाहुती—	(प्रश्न० ४-४)	४४
यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् ।—	(ऐत० ३-१-२)	९५
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा—	(ऋ० १-१६४-२२)	१०१
या ते तनुर्वाचि प्रतिष्ठिता—	(प्रश्न० २-१२)	३०
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्—	(ऋ० १-१६४-२१)	१०१
यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेन—	(प्रश्न० ५-५)	५५

व

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो—	(ऐतरेय० शान्तिपाठ)	६८
विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ।	(ब्र० सू० १-२-२)	१०२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसम्—	(प्रश्न० १-८)	१४
विज्ञानात्मा सह देवैश्च—	(प्रश्न० ४-११)	५२
वैश्वानरस्य सुमत्तौ स्याम—	(ऋ० १-९८-१)	३३
व्यतिरेकानवस्थितेश्च—	(ब्र० सू० २-२-४)	१०३
व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य	(प्रश्न० २-११)	३०

श

शब्द विशेषात् ।	(ब्र० सू० १-१-५)	१०३

स

स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो—	(ऐत० १-१-२)	७२
स ईक्षत कथंन्विदं मदृते स्यादिति—	(ऐत० १-३-११)	८६
स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्—	(ऐत० १-१-३)	८५
स ईक्षतेमे नु लोकाश्च—	(ऐत० १-३-१)	८२
स ईक्षांचक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त—	(प्रश्न० ६-३)	५८
स ऐतमेव सीमानं विदार्यैतया—	(ऐत० १-३-१२)	८७
स एतेन प्रज्ञेनात्म नास्मालोकात्	(ऐत० ३-१-४)	९९
स एवं विद्वानस्माच्छरीर—	(ऐत० २-१-६)	९६
स एष वैश्वानरो विश्वरूपः—	(प्रश्न० १-७)	१३
स जातो भूतान्याभि व्यैख्यत्—	(ऐत० १-३-१३)	८८
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—	(सां० द० १-६१)	५०
स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्—	(प्रश्न० ६-४)	५९
स यथा सोम्य वयांसिवासो—	(प्रश्न० ४-७)	४७
स यथेमा नद्यः स्यन्दमाना : समुद्रायणाः—	(प्रश्न० ६-६)	६०
स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष—	(प्रश्न० ४-६)	४६
स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स—	(प्रश्न० ५-३)	५४
सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।—	(ब्र० सू० २-४-५)	२४
सप्तपोऽतयत स तपस्तप्त्वा	(प्रश्न० १-४)	२६
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।	(ब्र० सू० १-२-१)	६६
सर्वा जीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते—	(श्वेताश्वतर० १-६)	१०१
स हि नारायणः ज्ञेयः सर्वात्मा—	(म० भा० शा० प० ३५१-१४)	८९
सा भावयित्री भावयितव्या भवति ।—	(ऐत० ३-१-३)	९२
सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च—	(प्रश्न० १-१)	९
सोऽपोभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो—	(ऐत० ३-२)	८२
सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव—	(प्रश्न० २-४)	२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोऽस्यायमात्मा पुष्येभ्यः—	(ऐत० ३-१-४)	९४
संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने	(प्रश्न० १-९)	१६
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः	(ऋ० १-८९-६)	८

ह

हृदि हेष आत्मा।	(प्रश्न० ३-६)	३६

ज्ञ

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा—	(श्वे० १-९)	३२, ९८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त की ऐतिहासिक पुस्तकें

परित्राणाय साधूनाम	(महाभारत पर आधारित सम्पूर्ण उपन्यास)
वैशाली विलय	(बहती रेता)
अस्ताचल की ओर	(3 भाग)
खण्डहर बोल रहे हैं	(3 भाग)
अमृत मन्थन	(राम कथा-1)
परम्परा	(राम कथा-2)
अग्नि परीक्षा	(राम कथा-3)
जमाना बदल गया	(4 भाग)
दो लहरों की टक्कर	(2 भाग)
विक्रमादित्य साहसांक	
युद्ध और शान्ति	
कुमकुम	
पत्रलता	
दिग्विजय	
वाम मार्ग	
लुढ़कते पत्थर	
गंगा की धारा	
सागर तरंग	
मेघवाहन	
भैरवी चक्र	
महाकाल	
अवतरण	

श्री गुरुदत्त की राजनीतिक रचनाएं

वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान.....	हिन्दू राष्ट्र
राष्ट्र राज्य और संविधान	
हिन्दुत्व की यात्रा	
धर्म संस्कृति और राज्य	
मनुष्य और समाज	
भारत में राष्ट्र	
भगनाश	
प्रजातंत्र अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था	
भारत गांधी नेहरु की छाया में	
धर्म तथा समाजवाद	
बुद्धि बनाम बहुमत	
स्व अस्तित्व की रक्षा	
मैं हिन्दू हूँ	(2 भाग)
भाव और भावना	(राजनैतिक संस्मरण)
भाग्यचक्र	(संस्मरण)
	(संस्मरण)

www.hindisahityasadan.com
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त के सर्वाधिक चर्चित उपन्यास

स्वाधीनता के पथ पर	(स्वाधीनता आन्दोलन 1930 से 35 का काल)
पथिक	(स्वाधीनता आन्दोलन 1935 से 40 का काल)
स्वराज्यदान	(स्वाधीनता आन्दोलन 1940 से 46 का काल)
विश्वासघात	(स्वाधीनता आन्दोलन 1946 से 47 का काल)
देश की हत्या	(स्वाधीनता आन्दोलन 1947 से 48 का काल)
दासता के नए रूप	(1948 से 49 का काल)
सदावत्सले मातृभूमे	(1949- का काल)

श्री गुरुदत्त की सामाजिक रचनाएं

अमानत
अनदेखे बन्धन
आवरण
अन्तरिक्ष में
आकाश पाताल
इबलीस
कला
घर की बात
आशा निराशा
अपने पराए
कामना
गुंठन
चंचरीक
जिन्दगी
जीवन ज्वार
न्यायाधिकरण
नए विचार नई बातें
नगर परिमोहन
नास्तिक
पंकज
परिमल
परिवर्तन
पड़ोसी
प्रवंचना
प्रतिशोध
प्रारब्ध और पुरुषार्थ
प्रेयसी
बन्धन शादी का
भगवान भरोसे
भाग्य का सम्बल
भूल
भूत और भविष्य
ममता
मायाजाल
मैं न मानूँ
यह संसार
यात्रा का अंत
लालसा
विकार
विलोम गति
विकृत छाया
स्वार्थ
सब एक रंग
सभ्यता की ओर
स्नेह का मूल्य
संस्कार
सफलता के चरण
सर्वमंगला
साहित्यकार
सुमति

Central Library
167941
Kangri (Deemed to be University)
081
167941

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स,10/54 डी बी गुप्ता रोड,करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास,नई दिल्ली-05
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या R089.91143 आगत संख्या 167941
GUR-P

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क लगेगा।

पातशाह पुनाप

www.hindisahityasadan.com
2 बी डी चैम्बर्स,10/54 डी बी गुप्ता रोड,करोल बाग पुलीस स्टेशन के पास,नई दिल्ली-05
E-mail: indiabooks@rediffmail.com Tel : 23553624, 23551344, 09213527666

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुदत्त

शिक्षाः एम. एस. सी.

8-12-1894 से 8-4-1989

लेखक की वेद, उपनिषद, दर्शन एवं वैदिक विज्ञान पर प्रमुख रचनाएं

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बंधु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110 005, फोन : 23553624, 23551344
ई-मेल : indiabooks@rediffmail.com, hindisahityasadan@gmail.com

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar